उपभोक्तावादी संस्कृति का जाल

सच्चिदानंद सिन्हा : जन्म : 1929, स्कूल में पढ़ते हुए ही 1942 में भारत छोड़ो आंदोलन में भाग लेने के दौरान जयप्रकाश नारायण के प्रभाव से समाजवादी आंदोलन से जुड़ गए। सोशलिस्टों के मजदूर आंदोलन के सिलसिले में मुंबई के गोदी (डॉक) मजदूरों के बीच खलासी का भी काम किया। पिछले पाँच दशकों से मजदूर व किसान आंदोलनों और सक्रिय राजनीति में भागीदारी के साथ निरंतर लेखन कार्य। राजनैतिक और आर्थिक विषयों के साथ-साथ कला, संस्कृति,समाजशास्त्र, नृतत्वशास्त्र (एंथ्रोपोलॉजी) और एथोलॉजी (पशुओं के व्यवहार-आचरण संबंधी अध्ययन) पर लिखते रहे हैं।
अभी बिहार के मुजफ्फरपुर जिले के मनिका गाँव (गाँव व पोस्ट: मनिका, जिला : मुजफ्फरपुर, पिन : 843119) में निवास।

प्रकाशित पुस्तकें : समाजवाद के बढ़ते हुए चरण, जिंदगी सभ्यता के हाशिए पर, भारतीय राष्ट्रीयता और सांप्रदायिकता, भारत में तानाशाही, मानव सभ्यता और राष्ट्र-राज्य, संस्कृति और समाजवाद, नक्सली आंदोलन का वैचारिक संकट, भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, संस्कृति-विमर्श, पूँजीवाद का पतझड़, बच्चो इनसे सीखो तुम (बच्चों के लिए कविताएँ), अल्बेयर कामू के नाटक 'लेस जस्टेस' का मूल फ्रेंच से 'न्यायी हत्यारे' नाम से हिंदी में अनुवाद।

10.00 रुपए
रोशनाई प्रकाशन
काँचरापाड़ा, पश्चिम बंगाल

उपभोक्तावादी संस्कृति का जाल

सच्चिदानंद सिन्हा

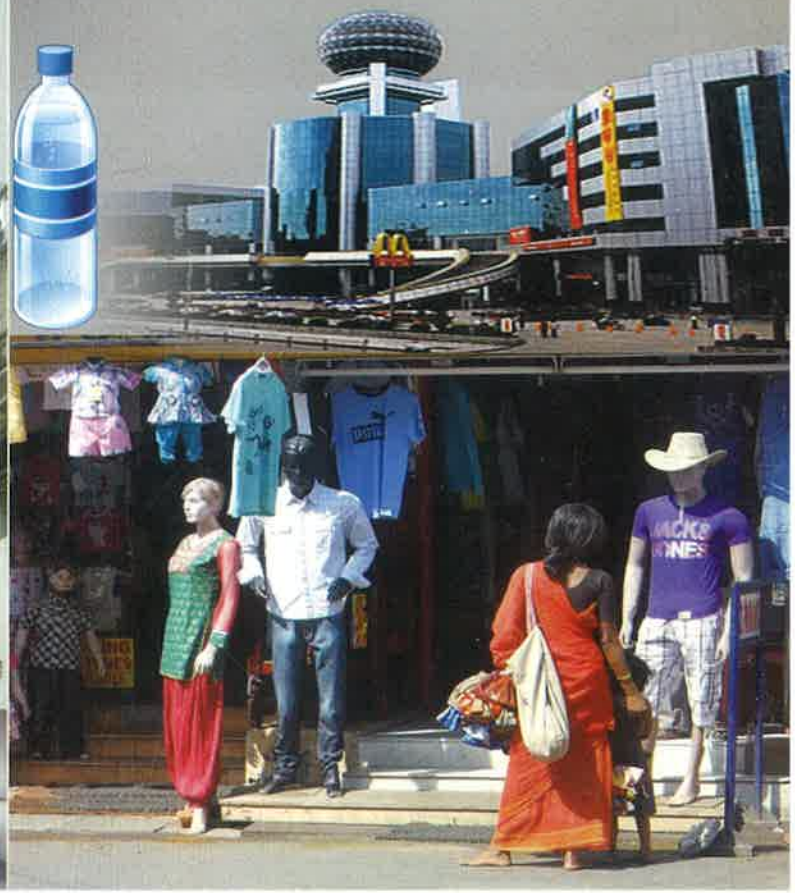

उपभोक्तावादी संस्कृति का जाल

सच्चिदानंद सिन्हा

रोशनाई प्रकाशन
काँचरापाड़ा, पश्चिम बंगाल

© सच्चिदानंद सिन्हा

मूल्य : 10.00 रुपए

प्रथम संस्करण : 1985 (समता प्रकाशन)
परिवर्धित संस्करण : जुलाई, 2012

प्रकाशक
रोशनाई प्रकाशन
212 सी. एल/ए, अशोक मित्र रोड
काँचरापाड़ा–743145, उत्तर 24 परगना, पश्चिम बंगाल।
फोन : 033-25850249, ई-मेल : roshnaiprakashan@sify.com

मुद्रक : जयश्री प्रेस, 91/1B, बैठकखाना रोड, कोलकाता–700009

आवरण : अंजलि मंडल

Upbhoktavadi Sanskriti by Sachchidanand Sinha

यह पुस्तिका

इधर के वर्षों में जिस संस्कृति का सबसे अधिक वैश्वीकरण हुआ है वह उपभोक्तावादी संस्कृति है। इस संस्कृति ने लोगों की एक ऐसी जमात 'निर्मित' की है जिसका रहन-सहन, खान-पान, पहनावा-ओढ़ावा ही नहीं उसके सोचने-विचारने का ढंग, उसके सपने, उसके मूल्य और उसकी आकांक्षाओं का निर्धारण यही संस्कृति करती है। मनुष्य-इतिहास के किसी भी कालखंड में ऐसा नहीं हुआ कि दुनिया में इतने लोग इतनी ज्यादा गैरजरूरी चीजों का व्यापक रूप से इस्तेमाल करते हुए जीते रहे हों। यह सही है कि मनुष्य में उपभोग की एक सहज वृत्ति रही है, लेकिन उपभोक्तावादी संस्कृति ने उसकी पहचान महज एक क्रेता और उपभोक्ता की बना दी है। जो जितना अधिक खरीद सकता है और उपभोग कर सकता है उसकी हैसियत उतनी अधिक बनती है।

पूँजीवादी सभ्यता की चालक शक्ति उपभोक्तावादी संस्कृति के बीच जो मनुष्य पल रहा है उसे न तो प्रकृति के साथ उसके सह-अस्तित्व का बोध है और न ही सुखमय जीवन का अर्थ मालूम है। आराम और सुविधा के लिए साधनों का इस्तेमाल हमेशा से होता रहा है, लेकिन इस संस्कृति ने ऐसी मानसिकता पैदा की है और होड़ मचाई है कि साधन अब साधन न होकर रुतबा और हैसियत का प्रतीक हो गया है और इस प्रकार वही साध्य बन गया है। हर व्यक्ति साधन-सामग्री को पाने और पाते जाने की होड़ में इस तरह शामिल है कि दूसरा व्यक्ति उसका साथी या सहयोगी नहीं बल्कि प्रतिद्वंद्वी और प्रतियोगी मात्र है। यह संस्कृति व्यक्ति से उसका व्यक्तित्व छीन रही है, मनुष्य से उसकी मनुष्यता लूट रही है और यह सब कार्य-व्यापार किस प्रकार चलाया जा रहा है, इसके मूल कारक क्या हैं, इसका प्रभाव कितना गहरा और व्यापक है, इन सब विषयों पर इस पुस्तिका में गहराई और अंतर्दृष्टि के साथ विचार किया गया है।

यह पुस्तिका करीब तीस साल पहले 'उपभोक्तावादी संस्कृतिः गुलाम मानसिकता की अफीम' नाम से छपी थी और अब इसे 'उपभोक्तावादी संस्कृति का जाल' शीर्षक से छापा जा रहा है। मूल पुस्तिका का एक छोटा हिस्सा जिसमें कम्युनिस्ट देशों में उपभोक्तावाद के स्वरूप की चर्चा की गई थी, इस नए संस्करण में हटा दिया गया है क्योंकि सोवियत रूस के विघटन और चीन द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का वरण करने के बाद उसे देना जरूरी नहीं लगा। इस संस्करण के लिए पुस्तिका के लेखक समाजवादी चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा ने उपभोक्तावादी संस्कृति की आज की स्थिति और उसके खुद के संकट की चर्चा करते हुए बड़ा सा एक हिस्सा लिखा है जिसे 'उपसंहार' शीर्षक के साथ छापा जा रहा है।

भूमिका

हमारा निजी रहन-सहन कैसा होता है, इसके सामाजिक प्रभाव के संबंध में बहुत विचार नहीं किया जाता। ऐसे लोग भी, जो समाज-परिवर्तन करना चाहते हैं, समाज से गरीबी मिटाना चाहते हैं और समता लाना चाहते हैं,खुद कैसे रहते हैं इस बारे में नहीं सोचते, लेकिन हमारा रहन-सहन और उपभोग का स्तर वास्तव में एक नितांत निजी मामला नहीं है। यह एक विशेष वातावरण की उपज है और स्वयं एक वातावरण बनाता है। यह वातावरण बहुत हद तक समाज के विकास की दिशा को प्रभावित करता है और इस बात का भी निर्धारण करता है कि उपलब्ध साधनों का कैसे उपयोग होगा। अतः यह एक ऐसा विषय है जिस पर गहराई से विचार करने की जरूरत है।

निजी रहन-सहन के संबंध में इस लापरवाही को वामपंथी और मार्क्सवादी पार्टियों में एक तरह की सैद्धांतिक मान्यता प्राप्त हो गई थी। एक यूरोपीय वामपंथी ने इस संबंध में एक दिलचस्प बात बताई। उसने बताया कि मार्क्स की स्वयं की आदतें फिजूलखर्ची की थीं हालाँकि उनकी जिंदगी प्रायः अभाव में ही बीती। इस व्यक्ति ने यह भी बताया कि पश्चिम के मार्क्सवादी मार्क्स की इस कमजोरी को अपनी फिजूलखर्ची के समर्थन में उदाहरण की तरह पेश करते हैं। भारत में भी जब किसी वामपंथी नेता के खर्चीले रहन-सहन की आलोचना की जाती है तो झट से यह जवाब मिलता है—'हमारा काम श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊपर उठाना है, खुद अपने जीवन-स्तर को नीचे गिराना नहीं।' शुरू के दिनों में समाजवादियों और गांधीवादियों के बीच अक्सर यह एक विवाद का मुद्दा रहता था। यह बात अलग है कि आमतौर पर समाजवादी कार्यकर्ताओं का जीवन बहुत ही सादगी और कभी-कभी तो अत्यंत गरीबी का होता था, क्योंकि ईमानदार कार्यकर्ताओं के लिए दूसरे तरह की जिंदगी संभव नहीं थी। जब सामाजिक कार्यकर्ताओं का यह हाल था तो आम आदमी में इस विषय पर सोचने की जरूरत कैसे पैदा होती?

इस समस्या को इस तरह नजरअंदाज करने के पीछे एक कारण यह भी था कि आजादी के पहले तक शहरी संस्कृति के तामझाम का प्रभाव बहुत सीमित था और उपभोक्तावादी संस्कृति अपने आप में विचार-विमर्श का विषय नहीं थी,

लेकिन पिछले कुछ वर्षों में यह संस्कृति जलकुंभी की तरह समाज पर छाती गई है। जो गरीब हैं वे तो गरीबी के कारण इससे अछूते रह जाते हैं या इसके प्रभाव से और गरीब होते चले जाते हैं, लेकिन मध्यवर्ग में तो यह महामारी की तरह फैल गई है। सामाजिक कार्यकर्ताओं के रहन-सहन और इसके प्रति उनकी दृष्टि का भी इस संस्कृति से गहरा संबंध है। अतः इस प्रश्न पर पूरी स्पष्टता की जरूरत है।

एक कारण और था जिससे वामपंथी लोगों में उपभोग की सीमा के सवाल पर कोई विचार नहीं होता था। यह मान लिया जाता था कि औद्योगिक उत्पादन की क्षमता सीमाहीन है और इसके अंधाधुंध प्रसार से कोई सामाजिक समस्या पैदा नहीं होगी। यह विचार भी पश्चिमी देशों से ही हमें मिला था। लेकिन अब पश्चिम के अधिकतर वैज्ञानिक और चिंतक भी यह मानने लगे हैं कि इस उत्पादन की एक सीमा है और हम उस सीमा के काफी करीब आ चुके हैं। इस कारण वहाँ छात्रों तथा बुद्धिजीवियों के बीच एक नया वामपंथ पैदा हो रहा है, जो प्राकृतिक साधनों की सीमाओं, प्रदूषण आदि समस्याओं के साथ वामपंथ को जोड़ने का प्रयास कर रहा है। इन लोगों ने भी यह अनुभव किया है कि मानव विकास की कल्पना प्रकृति द्वारा बाँधी गई सीमाओं के भीतर ही की जा सकती है। स्पष्ट है कि कोई भी दीर्घकालीन विकास प्राकृतिक साधनों के अपव्यय को रोककर ही संभव है। हमारा उपभोग कितना और किन वस्तुओं का हो वह इससे सीधा जुड़ा हुआ है। इस तरह उपभोक्तावादी संस्कृति एक तरह से समाज के विकास के लिए सबसे प्रमुख अवरोध बन गई है।

इस सवाल पर साफ दृष्टि की इसलिए भी जरूरत है कि उपभोक्तावाद का दबाव बहुत जबरदस्त होता है। किसी व्यक्ति के इर्द-गिर्द लोग कैसे रहते हैं,क्या पहनते हैं आदि की देखादेखी ही वह अपना रहन-सहन बनाने की कोशिश करता है। अगर सामाजिक कार्यकर्ता किसी भी स्तर के उपभोग को सामान्य मान ले तो वह इस दबाव से नहीं बच सकता। इससे वह तभी बचेगा जब उसे यह पता हो कि कौन सी सामाजिक शक्तियाँ इस दबाव के पीछे काम करती हैं और कैसे वे उसके बुनियादी मूल्यों के विपरीत प्रभाव डालती हैं या उन उद्देश्यों को नष्ट करनेवाली हैं जिनको लेकर वह चलता है। आज उपभोक्तावाद पूँजीवादी शोषण व्यवस्था का परिणाम भर नहीं है बल्कि उसे जिंदा रखने का सबसे कारगर हथियार भी है। इसलिए भी संघर्ष को उपभोक्तावाद के खिलाफ केंद्रित करना जरूरी हो जाता है। यह पुस्तिका उपभोक्तावाद के विभिन्न पहलुओं पर इसी दृष्टि से विचार करती है।

—सच्चिदानंद सिन्हा

उपभोक्तावादी संस्कृति

जब हम उपभोक्तावादी संस्कृति की बात करते हैं तो उपभोग तथा उपभोक्तावाद में फर्क करते हैं। उपभोग जीवन की बुनियादी जरूरत है। इसके बगैर न जीवन संभव है और न वह सब जिससे हम जीवन में आनंद का अनुभव करते हैं। इस तरह के उपभोग में हमारा भोजन शामिल है जिसके बिना हम जी नहीं सकते या कपड़े शामिल हैं जो शरीर ढँकने के लिए और हमें गर्मी, सर्दी और बरसात से बचाने के लिए जरूरी हैं। इसी तरह जीवन की रक्षा करनेवाली या शरीर की तकलीफों को दूर करनेवाली दवाएँ, ऋतुओं के प्रकोप से बचाने के लिए घर, ये सब उपभोग की वस्तुएँ हैं। औरतों और मर्दों द्वारा एक-दूसरे को आकर्षित करने के शृंगार के कुछ साधन भी उपभोग की वस्तुओं में आते हैं। यह बिलकुल प्राकृतिक और स्वाभाविक जरूरत है। मनुष्य में ही नहीं, पशु-पक्षियों और पेड़-पौधों में भी नर और मादा के बीच आकर्षण पैदा करने के लिए सुंदर रंगीन बाल, रोंएँ और पंख, भड़कीले रूप, मीठे संगीतमय स्वर तथा तरह-तरह की गंध प्रकृति की देन है। इन सब गुणों की उपयोगिता जीवों में विभिन्न मात्रा में रूप, रंग, गंध, स्वर आदि के प्रति स्वभाव से प्राप्त आकर्षण से आती है। यही स्वाभाविक आकर्षण एक ऊँचाई पर मनुष्यों में सौंदर्यबोध को जन्म देता है। अपने परिवेश को नृत्य,संगीत, चित्र, मूर्ति आदि से सजाना या साहित्य और विज्ञान के जरिए अपने वातावरण का प्रतीकात्मक अनुभव करना, मनुष्य को सबसे ऊँचे दर्जे का आनंद देता है। इस प्रक्रिया में निर्मित कलावस्तु, पुस्तक आदि सब मनुष्य के स्वाभाविक उपभोग के क्षेत्र में आते हैं। संक्षेप में उपभोग की वस्तुएँ वे हैं, जिनके अभाव में हम स्वाभाविक रूप से अप्रीतिकर तनाव का अनुभव करते हैं—चाहे वह भोजन के अभाव में भूख की पीड़ा से उत्पन्न हो अथवा संगीत एवं कलाओं के अभाव में नीरसता की पीड़ा से।

इसके विपरीत ऐसी वस्तुएँ,जो वास्तव में मनुष्य की किसी मूल जरूरत

या कला और ज्ञान की वृत्तियों की दृष्टि से उपयोगी नहीं हैं, लेकिन व्यावसायिक दृष्टि से प्रचार के द्वारा उसके लिए जरूरी बना दी गई हैं, उपभोक्तावादी संस्कृति की देन हैं। पुराने सामंती या अंधविश्वासी समाज में भी ऐसी वस्तुओं का उपभोग होता था जो उपयोगी नहीं थीं बल्कि कष्टदायक थीं—उदाहरण के लिए चीन में कुलीन महिलाओं के लिए बचपन से पाँव को छोटे जूते में कसकर छोटा रखने का रिवाज, लेकिन यह प्रचलन औरतों की गुलामी और मर्दों की मूर्खता का परिणाम था। अतः शोषण की समाप्ति या चेतना बढ़ने के साथ इसका अंत होना लाजिमी था, लेकिन उपभोक्तावादी संस्कृति ऐसी वस्तुओं को शुद्ध व्यावसायिकता के कारण योजनाबद्ध रूप से लोगों पर आरोपित करती है और मनोविज्ञान की आधुनिकतम खोजों का इसके लिए प्रयोग करती है कि इन वस्तुओं की माया लोगों पर इस हद तक छा जाए कि वे इनके लिए पागल बने रहें।

विज्ञापन का जादू

एक उदाहरण बालों को सघन और काला रखने की दवाओं तथा तेलों का है। सर्वविदित है कि अभी तक बालों को गिरने या सफेद होने से रोकने का कोई उपचार नहीं निकला है। लेकिन हर रोज ऐसे विज्ञापन निकलते रहते हैं जो लोगों में यह भ्रम पैदा करते हैं कि किसी खास दवा या तेल से उनके बालों की रक्षा हो सकती है और इनसे प्रभावित होकर लोग इन उपचारों पर अंधाधुंध खर्च करते हैं। यही हाल प्रायः दाँत के टूथपेस्टों का है। पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठ चमकीले दाँतोंवाली महिलाओं की तस्वीरों से भरे रहते हैं जो किसी न किसी कंपनी के टूथपेस्ट के चमत्कार के रूप में अपने दाँतों का प्रदर्शन करती होती हैं। एक के बाद एक सभी दाँतों के खराब हो जाने के बाद भी लोग उपचार की दृष्टि से टूथपेस्टों की निरर्थकता नहीं देख पाते। ऐसा गहरा असर इस प्रचार के जादू का होता है। यह स्थिति बिलकुल अशिक्षित समाज में जादू-टोने के प्रति फैले अंधविश्वास से भिन्न नहीं है, लेकिन इस अंधविश्वास के शिकार मूल रूप से शिक्षित कहे जानेवाले लोग ही हैं।

किसी विशेष कंपनी की साड़ी से सजी सुंदर औरत,सूट में सजा सुंदर नौजवान, कोकाकोला की बोतलें लिए समुद्रतट के रमणीक माहौल में खड़े सुंदर स्त्री-पुरुष,विशेष कंपनी के बाथिंगसूट में समुद्रतट पर क्रीड़ा करती बालाएँ—इन सबके भड़कीले इश्तहार एक ऐसा मानसिक माहौल तैयार करते हैं कि लोग मॉडलों (इश्तहार के सुंदर स्त्री-पुरुष) की सुंदरता का राज विभिन्न तरह के परिधानों और कोकाकोला में देखने लगते हैं। क्विंटल भर वजनवाली

महिलाएँ और बड़ी तोंदवाले पुरुष भी इन कंपनियों का सूट या बाथिंगसूट पहने विज्ञापन के मॉडलों जैसे अपने रूप की कल्पना करने लगते हैं। फिर दुकानों में इन कंपनियों के परिधानों और कोकाकोला की तलाश शुरू हो जाती है। इस तरह धीरे-धीरे सुंदरता का अर्थ, मनुष्य की स्वाभाविक सुंदरता, जो उसके स्वास्थ्य और स्वभाव से आती है, न रहकर खास-खास कंपनियों के बने मोजे से लेकर टोपी तक में सजावट बन जाता है। सुंदर का मतलब खास तरह के परिधान में सजना या खास तरह के क्रीम पाउडर से पुता होना बन जाता है। सुंदर शब्द भी अब फैशन से बाहर होता जा रहा है, उसका स्थान 'स्मार्ट' ने ले लिया है जिसका सीधा संबंध लिबास, सजधज और अप-टू-डेट अदा से है। प्रचलित फैशन से सुंदरता की परिभाषा कैसे बदल सकती है, इसका एक उदाहरण हम रंग की मैचिंग में देख सकते हैं। सौंदर्य की दृष्टि से रंग की मैचिंग यानी एक ही रंग का सारा लिबास रखना, भोंडी चीज है। सौंदर्य रंगों की विविधता और उनके उपयुक्त संयोजन से आता है। इसी कारण राजस्थान की सरल ग्रामीण महिलाएँ अपने सस्ते लिबास में भी रंगों के उचित संयोजन से जहाँ भी इकट्ठा होती हैं फूलों की क्यारियों सी सज जाती हैं। लेकिन मैचिंग का पागलपन सवार हो जाने से जहाँ एक हैंडबैग, एक जोड़ा जूता या चप्पल तथा एक रंग की लिपस्टिक से काम चल सकता था वहाँ अब हर कपड़े के रंग के साथ सब कुछ उसी रंग का होना चाहिए। इस तरह अब एक की जगह आधे दर्जन सामान खरीदने की जरूरत हो जाती है। पर सबसे हास्यास्पद तो यह होता है कि काले या नीले कपड़ों से मैच करने के लिए लाल होंठोंवाली सुंदरियाँ अपने होंठ काले या नीले रंग में रँगने लगती हैं। इस तरह की मूर्खतापूर्ण सजावट का फैशन फैलाने से लिपस्टिक बनानेवाली कंपनियों को अपना व्यापार बढ़ाने का सीमाहीन सुयोग प्राप्त हो जाता है।

यह सोचा जा सकता है कि अगर भिन्न रंग के कपड़े इकट्ठे हो गए तो वे ही कपड़े अदल-बदलकर ज्यादा दिन पहने जा सकते हैं, लेकिन ऐसा भी नहीं हो पाता, क्योंकि एक सुनियोजित ढंग से फैशन-प्रदर्शनों और प्रचार के द्वारा ऐसा मानसिक वातावरण तैयार कर दिया जाता है कि फैशन जल्दी-जल्दी बदलते जाएँ। इस साल की चलन का कपड़ा अगले साल तक फैशन से बाहर हो जाता है और लोग यह साहस नहीं कर पाते कि 'संभ्रांत' लोगों की मंडली या दफ्तर में 'आउट ऑफ डेट' लिबास में पहुँचे। इस तरह धड़ल्ले से कपड़ों, जूतों, टोपी आदि में बदलाव होता रहता है। लोग मजबूरी में ही एक-दो साल पहले की चलन का कोई कपड़ा पहनते हैं। पश्चिमी देशों में तो एक तरह की 'थ्रो अवे' संस्कृति, जिसकी छाया हमारे यहाँ भी पड़ रही है, फैल रही है,यानी ऐसी चीजों का उत्पादन और प्रयोग बढ़ रहा है जिन्हें कुछ समय या

एक ही बार उपयोग में लाकर फेंक दिया जाए।

लेकिन इस संस्कृति को फैलाने के लिए की जानेवाली विज्ञापनबाजी का बोझ भी वे ही लोग ढोते हैं जिनके सिर पर यह संस्कृति लादी जाती है। सबसे पहले तो कंपनियों द्वारा प्रचारित वस्तुओं की कीमत का एक बड़ा हिस्सा विज्ञापन पर खर्च होता है। कभी-कभी तो कंपनियाँ उत्पादन से अधिक खर्च अपनी वस्तुओं को प्रचारित करने में करती हैं। इस विज्ञापनबाजी के लिए काफी खर्चीले शोध होते रहते हैं। पर परोक्ष रूप से विज्ञापन का बोझ फिर दुबारा उपभोक्ताओं पर ही पड़ता है। विज्ञापन पर किए गए खर्च को अपनी लागत में दिखलाकर कंपनियाँ आयकर में भारी कटौती करा लेती हैं। कंपनियों पर कर की कटौती से आम लोगों पर वित्तीय बोझ बढ़ता है। इस तरह विज्ञापनबाजी से लोगों पर दुहरी आर्थिक मार पड़ती है।

कृत्रिमता ही जीवन

कृत्रिम शहरी वातावरण में,जो उपभोक्तवादी संस्कृति का परिवेश है, फूलों की गंध, हरियाली,सूरज, चाँद और खुला आकाश मनुष्य के अनुभव और सौंदर्यबोध के दायरे से बाहर चले जाते हैं।इनकी जगह कृत्रिम रूप से प्रकाशित एवं सँवारा गया वातावरण,नकली घास और फूल तथा कृत्रिम सुगंधित द्रव्य पेश किए जाते हैं। कृत्रिम जरूरतों के दबाव में आदमी की स्वाभाविक शारीरिक और मानसिक भूख दब जाती है। फिर तरह-तरह के चटखारों से कृत्रिम भूख जगाई जाती है। चूँकि इस भूख का मनुष्य की प्रकृति से कोई संबंध नहीं होता, इसे किसी भी चीज के लिए किसी भी हद तक उकसाया जा सकता है। शायद इस संस्कृति की अंतिम परिणति उस समाज में होगी, जहाँ जीव विज्ञान की 'जनेटिक इंजीनियरिंग' जैसी उपलब्धियों का प्रयोग कर मनुष्य के स्वाभाविक सौंदर्यबोध को भ्रूणावस्था में ही समाप्त कर दिया जाएगा। इस तरह स्वभावगत सौंदर्यबोध के नष्ट होने से भोंड़े फैशनों के प्रतिरोध का अंतिम आधार भी खत्म हो जाएगा और तब सुंदर का सीधा अर्थ शक्तिशाली कंपनियों द्वारा निर्मित और प्रचारतंत्र द्वारा प्रसारित प्रसाधन और परिधान का उपभोग करना ही हो जाएगा।

उपभोक्तावादी संस्कृति का यह प्रधान गुण है कि वह अनावश्यक वस्तुओं को मनुष्य के लिए आवश्यक बना देती है और इस तरह मनुष्य की सीमित आवश्यकताओं को सीमाहीन। चूँकि आवश्यकताएँ सीमाहीन बन जाती हैं लोग दिन-रात, सारी जिंदगी एक न एक वस्तु जुटाने में लगे रहते हैं। आदमी

पर एक तरह से गुलामी हावी हो जाती है। परंपरागत शोषक समाजों में भी विशिष्टता जाहिर करने के लिए कुछ अनावश्यक वस्तुओं के उपभोग की ओर रुझान था। लेकिन लोगों की वस्तुपरक दृष्टि को नष्ट करने का आज जैसा विज्ञापन और प्रचार का कोई अभियान न होने के कारण इसके प्रति एक आलोचनात्मक दृष्टि और निषेध भाव भी बना रहता था। अधिकांश परंपरागत धर्मों में अति ठाटबाट या असंतुलित उपभोगवृत्ति को निंदनीय माना जाता था। चूँकि उपभोक्तावादी संस्कृति का आधार व्यावसायिकता है, उसने उपभोग को ही धर्म के रूप में खड़ा कर दिया है और इस तरह उपभोग की वृत्ति बेरोकटोक आगे बढ़ती जाती है।

उपभोक्ता संस्कृति का विकास

अब प्रश्न उठता है कि यह उपभोक्तवादी संस्कृति कैसे विकसित हुई? इस समस्या पर विचार करने पर हम पाएँगे कि यह मूल रूप से पूँजीवादी उत्पादन और वितरण प्रणाली की उपज है। समाज के हर क्षेत्र के व्यावसायीकरण की प्रक्रिया में पूँजीवादी समाज ने मनुष्य की सहज उपभोगवृत्ति का व्यावसायीकरण कर इस संस्कृति को जन्म दिया है। जैसा कि ऊपर बतलाया गया है, शोषण पर आधारित हर समाज में शोषकों में कुछ बे-जरूरत की वस्तुओं के उपभोग की ओर रुझान रहा है,जिससे वे समाज पर अपनी विशिष्टता की धाक जमा सकते थे। लेकिन ऐसा तब होता था जब शोषण या लूट-खसोट से प्राप्त धन से शासकों का वैभव उफनने लगता था और वे अपने अतिरिक्त धन को देश-विदेश से उपलब्ध परंपरागत शान-शौकत की वस्तुओं पर खर्च करते थे। इस प्रक्रिया की शुरुआत शासकों में धन की विपुलता से होती थी और फिर उन वस्तुओं की तलाश होती थी या उन्हें बनवाया जाता था जिनका उपभोग शासकवर्ग को गौरवान्वित कर सके। पूँजीवादी व्यवस्था में प्रक्रिया बिलकुल उलट गई है। इसमें पहले खर्चीले शोध के जरिए हर रोज नए तरह के उपभोग के सामान ईजाद किए जाते हैं, जिनमें कुछ बिलकुल नई किस्म के होते हैं और कुछ पुरानी उपभोग की वस्तुओं का स्थान ग्रहण करते हैं। इसके बाद इन्हें प्रचारित कर इनके लिए बाजार पैदा किया जाता है। फिर इस प्रचार से प्रभावित लोग इन्हें प्राप्त करने के लिए आर्थिक साधन की तलाश करते हैं। इसके लिए अक्सर वर्षों के लिए अपना श्रम बंधक रखकर निम्न-मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग के लोग 'हायर-परचेज' के आधार पर सामान खरीद लेते हैं और फिर अपनी आमदनी में से किस्तों में सूद के साथ पैसा भरते रहते हैं। मोटरगाड़ियाँ,फ्रिज,टीवी आदि अक्सर इसी तरह मध्यमवर्ग और पश्चिम में

मजदूरवर्ग के घरों को सुशोभित करते हैं। इस तरह भविष्य की कमाई गिरवी रखकर भी वस्तुओं की भूख मिटाई जाती है। वास्तव में मनुष्य स्वयं इन वस्तुओं को लेकर खुद बंधक बन जाता है। वह आजादी के साथ अपने जीवन के विषय में कोई निर्णय नहीं ले सकता क्योंकि उसके सक्रिय जीवन का हर वर्ष पेशगी में उन कंपनियों या बैंकों को दिया जा चुका होता है जिनकी सेवा कर वह खरीदी गई वस्तुओं का कर्ज चुकाएगा। इस तरह मनुष्य उपभोग की वस्तुओं का बँधुआ मजदूर बन जाता है।

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली की एक विशेषता यह है कि वह उत्पादन की प्रक्रिया में उत्पादक मजदूर से सृजन का सुख छीन लेती है। यह विशेषता इसे शोषण पर आधारित सभी पिछली उत्पादन प्रणालियों से अलग कर देती है। गुलामी की व्यवस्था, सामंती या भारत की जाति व्यवस्था में भी असली उत्पादक शोषण के शिकार थे और समाज में निरादर के पात्र थे। फिर भी इन व्यवस्थाओं में शिल्पी मजदूर वस्तुओं के निर्माण की पूरी प्रक्रिया पर अधिकार रखते थे। इस तरह वे अपनी रुचि और कौशल के अनुसार वस्तुओं का निर्माण करते थे और इसमें उन्हें एक सीमा के भीतर सृजन का सुख मिलता था। जीवन के अन्य क्षेत्रों में कुंठित उनकी आकांक्षाएँ, संवेदनशीलता और कल्पना सभी इन वस्तुओं में समाहित होती थीं। उदाहरण के लिए एक कुम्हार की सारी संवेदना और कल्पना उसकी उँगलियों के स्पर्श से उसके घड़े या अन्य बरतनों के आकार में व्याप्त हो एक आत्मीय रूपाकार देती थी। फिर वह अपनी रुचि से उन्हें पकाने के पहले विभिन्न रंगों और रूपों से सजाता था। फलस्वरूप उसके बरतनों में एक वैयक्तिक अभिव्यक्ति होती थी। ऐसे ही कारणों से यूनान, मध्ययुगीन यूरोप या प्राचीन भारत की स्थापत्यकला, मूर्तिकला या रोजमर्रा के उपयोग की वस्तुओं में हम किसी न किसी स्तर की कलात्मकता पाते हैं। कहीं-कहीं तो यह कलात्मकता चरम बिंदु को छू लेती है।

इसके विपरीत पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली ने शुरू से ही जल्द और थोक उत्पादन की पद्धति को प्रोत्साहित करने के लिए वस्तुओं के खंडित उत्पादन की प्रक्रिया अपनाई। इसमें एक ही वस्तु के निर्माण के विभिन्न स्तरों को विभिन्न लोगों में बाँट दिया गया और किसी भी निर्माता श्रमिक का नियंत्रण पूरी वस्तु के स्वरूप के निर्माण पर नहीं रहा। उत्पादक अब पूँजीपति थे जो तय करते थे कि क्या निर्मित होगा और अपनी योजना के हिसाब से वे काम का बँटवारा विभिन्न श्रमिकों में करते थे । 'शिल्पियों ' का स्थान अब श्रमिकों ने ले लिया। पूँजीवादी व्यवस्था के प्रारंभ में पूँजीपति स्वतंत्र श्रमिकों को काम बाँटते थे, बाद में उन्हें एक जगह कारखाने में आकर काम करने के लिए मजबूर किया गया।

कालांतर में जब भाप और बिजली से चालित मशीनों का आविष्कार हुआ तबसे मजदूर मशीनों के गुलाम बन गए और उन्हें अपना काम और अपनी गति मशीनों के अनुरूप बनानी पड़ी। उत्पादन प्रक्रिया में अब श्रमिकों के निजी कौशल का स्थान एकरसता ने ले लिया। उत्पादन का प्रधान गुण 'स्टैंडर्डाइजेशन' (एक मानक के भीतर उत्पादन) बन गया। वस्तुओं की विविधता भी श्रमिकों की सृजनात्मकता के साथ समाप्त हो गई। उत्पादित वस्तु और उत्पादक मजदूर दोनों से उनकी अपनी विशिष्टता छीन ली गई।

इस उत्पादन पद्धति का सबसे विकसित रूप आधुनिक कारखाने की एसेंबली लाइन है। ये कारखाने 'कान्वेयर बेल्ट' का जाल होते हैं जिसके जरिए विभिन्न हिस्सों से मशीन के पुर्जों के हिस्से प्रवाहित होते रहते हैं। अलग-अलग बिंदुओं पर अलग-अलग मजदूर विभिन्न औजारों से पुर्जों में थोड़ा कुछ जोड़ते जाते हैं। इस तरह यह पुर्जा तैयार होकर उस बिंदु पर पहुँचता है जहाँ उसे कोई दूसरा मजदूर किसी और पुर्जे के साथ जोड़ता है। इस प्रक्रिया के अंत में पूरी मशीन, मोटरगाड़ी, साइकिल आदि हमें तैयार रूप में मिलते हैं। पूरी मशीन की रूपरेखा कुछ विशेषज्ञों द्वारा तैयार किसी ब्लूप्रिंट (नक्शे) में होती है। कारखाने में काम करनेवाले मजदूर कठपुतलियों की तरह चंद सेकेंड या चंद मिनट तक मशीन की गति के हिसाब से कुछ यांत्रिक क्रिया अपने पूरे कार्यकाल में दोहराते जाते हैं। मजदूरों को इस तरह एक यंत्र के रूप में परिवर्तित कर देने का एक फायदा पूँजीपतिवर्ग को यह हुआ है कि आवश्यकता के अनुसार वे मजदूरों की जगह कंप्यूटर से अधिकाधिक काम करा सकते हैं। मजदूर रखे जाएँ या कंप्यूटर, यह सिर्फ इस बात पर निर्भर करता है कि कौन सस्ता पड़ता है।

इस उत्पादन प्रणाली में मजदूरों को न तो साँस लेने की फुरसत मिलती है और न ही सृजन का सुख क्योंकि उन्हें मशीन की गति से चलना होता है और दूसरे, उन्हें अपने काम की रूपरेखा की भी कोई जानकारी नहीं होती। इसी प्रक्रिया को कार्ल मार्क्स ने आधुनिक उद्योगों के प्रारंभिक काल में 'एलियेनेशन' (आत्मदुराव) की संज्ञा दी थी जिसमें मजदूरों का निजत्व जो उनकी श्रम-प्रक्रिया से जुड़ा है उनसे अलग हो जाता है और यह श्रम जब उत्पादन के जरिए पूँजी का रूप ग्रहण कर लेता है तो फिर मजदूरों के शोषण का औजार बन जाता है।

औद्योगिक मानसिकता

थोक पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली के विकास और पूँजीवादी व्यवस्था के वर्चस्व के साथ तेजी से बड़ी मात्रा में उत्पादन अब जीवन के हर क्षेत्र का लक्ष्य बन

गया। एसेंबली लाइन अब कारखाने की छत के नीचे ही सीमित नहीं रही सारी दुनिया इसके दायरे में आने लगी। उत्पादन के क्षेत्र में अब पूरे देश से या दुनिया भर से अर्द्ध तैयार सामान को किसी बड़ी जानी-मानी कंपनी की छत्रछाया में इकट्ठा कर अंतिम रूप दिया जाने लगा। धीरे-धीरे पूँजीवादी उत्पादन की आवश्यकता और इसके मानक पूरे समाज पर हावी होने लगे। खासतौर से शिक्षा व्यवस्था और बौद्धिक क्षेत्र में यह पूरी तरह से हावी हो गया है। अब शिक्षा और शोध संस्थान भी औद्योगिक प्रतिष्ठानों के ढाँचे पर एसेंबली लाइन का रूप ग्रहण करने लगे हैं। शिक्षा का उद्देश्य जीवन और उसकी समस्याओं को समझाना और उनके मानवीय दायित्वों के लिए शिक्षार्थियों को तैयार करने के बजाए औद्योगिक समाज की तकनीकी आवश्यकताओं की पूर्ति करना बन गया है। औद्योगिक उत्पादन की प्रक्रिया की तरह शिक्षा और शोध भी खंडित हो गए हैं जिसका उद्देश्य छोटे-छोटे क्षेत्रों के विशेषज्ञ पैदा करना भर हो गया है। ऐसे विशेषज्ञ अक्सर अपने विषय के पूर्ण स्वरूप और समस्याओं से अनभिज्ञ होते हैं। हजारों लोगों द्वारा अपने-अपने क्षेत्रों में किए जा रहे शोध कार्यों के उद्देश्य का ज्ञान सिर्फ उन वृहत् प्रतिष्ठानों को होता है जो उनके शोध का उपयोग किसी खास उद्देश्य के लिए करते हैं। इनमें बड़ी संख्या में औद्योगिक या सरकारी प्रतिष्ठान होते हैं। ये प्रतिष्ठान विश्वविद्यालयों को विशेष तरह की शिक्षा या शोध के लिए अनुदान देते हैं जिसके बिना बड़े पैमाने पर शिक्षा या शोध का काम नहीं हो सकता। इस तरह शिक्षा-व्यवस्था पर औद्योगिक प्रणाली के मूल्य हावी होते जा रहे हैं। उद्योगों की मानसिकता अब इस हद तक व्यापक होती जा रही है कि कलाकारों, साहित्यकारों एवं समाजशास्त्रियों के 'वर्कशाप' गठित होने लगे हैं जो एक हद तक पूँजीवादी समाज में लोगों की बनती हुई स्थिति का प्रतीक भी है। पूँजीवाद समाज में कला, साहित्य या समाजशास्त्र, सभी का अंतिम मूल्य बाजारू मूल्य बन जाता है, जिसमें महत्व इस बात का नहीं है कि किसी कलाकार या साहित्यकार ने कितनी गहरी अनुभूति या मानवीय सत्य को सफल अभिव्यक्ति दी है बल्कि यह है कि उसने एक व्यावसायिक समाज की जरूरत के हिसाब से कितना खपत के लायक माल तैयार किया है। अगर इस दूसरी कसौटी पर उसका माल ठीक उतरता है तो फिर उसकी सफलता निश्चित है। फिर रेडियो, टीवी और अखबारों की सुर्खियों से रंगकर वह ख्यातिप्राप्त लेखक या कलाकार बन जाएगा।

एसेंबली लाइन से जुड़े कलाकार, विचारक और साहित्यकार को बस उस चीज का अधिकार नहीं है जिसको पूर्ववर्ती समाज में उनकी सबसे बड़ी निधि माना जाता था—एक हद का एकांत जीवन और चिंतन,क्योंकि उन्हें सब

कुछ औरों के साथ औरों के चिंतन से जुड़कर करना है। एक हद तक कला और साहित्य सदा कलाकार-साहित्यकार समुदाय के भीतर विकसित होते थे। इसमें विचारों के आदान-प्रदान और चयन से मौलिक चीजें निकलती थीं। लेकिन अब कलाकारों-साहित्यकारों का नया समुदाय एक व्यावसायिक समुदाय बन रहा है जिसमें कलाकार या साहित्यकार को विशेष योजना के तहत 'इकट्ठा' शब्द के असली अर्थ में एक छत के नीचे इकट्ठा किया जाता है। इस तरह के व्यावसायिक उद्यम में पुस्तक की कल्पना का संयोजन अब लेखक का निजी मामला नहीं। इसके लिए उसे पहले प्रकाशकों की योजना को जानना-समझना होता है और फिर उसके अनुसार लिखना होता है। इसके बाद भी अगर प्रकाशकों के हिसाब से बात ठीक नहीं बन पाई तो आधे दर्जन संपादक उसे काट-छाँट और संवर्धित कर उस रूप में ला देंगे जो बाजार की चाह के मुताबिक है। अगर लेखक को जीना है तो अपना नाम भर इस रचना को दे देना है जो वास्तव में उसकी नहीं रही।

ऐसे समाज में धीरे-धीरे आदमी की संवेदनशीलता और सृजनशीलता नष्ट होती चली जाती है। आदमी का जीवन यांत्रिक होता जाता है और इस तरह आध्यात्मिक रूप से (आध्यात्मिकता धार्मिक अर्थ में नहीं बल्कि इस अर्थ में कि आदमी के जीवन की सार्थकता जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति की चिंता से ऊपर उठकर चेतना की दुनिया में निवास करने में ही होती है।) आदमी खोखला हो जाता है। अगर आदमी का जीवन खोखला हो गया है और उसमें नीरसता और ऊब पैदा हो गई है तो फिर उसको भरने के लिए कुछ चाहिए। उपभोक्तावादी संस्कृति आदमी की इस आध्यात्मिक भूख को कारखाने में निर्मित सामग्रियों से भरकर मिटाने का उपाय है।

इसके अलावा सर्जनात्मकता के अभाव में आदमी का अस्मिता-बोध खतम होता जाता है।इसके विपरीत जब आदमी अपनी भावनाओं के अनुरूप कुछ भी बनाता है तो उसमें उसके अपनेपन की अभिव्यक्ति होती है और इससे निजत्वबोध का जन्म होता है। ऐसा आदमी अपने को निजी मूल्यों की कसौटी पर कसना चाहता है , लेकिन सृजन-प्रक्रिया से रिक्त आदमी हमेशा अपने को दूसरों की निगाह से तौलता है। इससे नकलचीपन और फैशनपरस्ती आती है। वह सोचता है कि जो सब रखते हैं उसे रखने से,जो सब खरीदते हैं उसे खरीदने से और जैसा सब सोचते हैं वैसा सोचने से ही समाज में उसकी कोई स्थिति बन पाएगी। ऐसे आदमी का स्वभाव अपने को दूसरे के अनुरूप बनानेवाला हो जाता है और ऐसा आदमी भावनात्मक रूप से दूसरों पर आश्रित होता है।वह अधिनायकवादी व्यवस्था में ज्यादा इत्मीनान महसूस करता है क्योंकि इसमें वह अपने बारे में बहुत सारे निर्णय

लेने से मुक्त हो जाता है। या मोटेतौर पर वह यह सोचने लगता है कि जैसा सब सोचते हैं वही ठीक है। एक तरह से इससे भीड़तंत्र की भूमिका तैयार होती है। लेकिन यह फटेहालों की भीड़ नहीं होती—नवीनतम परिधानों और क्रीम पाउडर में सजे-धजे बाहर से अति सुसंस्कृत लगनेवाले लोगों की भीड़ होती है। लेकिन थोड़ा कुरेदने पर इन परिधानों के भीतर से खोखलापन झाँकने लगता है। हल्की चोट लगते ही सब ढोल की तरह एक सी आवाज निकालने लगते हैं। इसकी परीक्षा किसी भी फैशनेबुल जमात के बीच लीक से हटकर कोई विचार व्यक्त करके तुरंत हो सकती है। ऐसे लोगों की प्रतिक्रियाएँ सुनने लायक होती हैं। लीक से अलग कही गई बात उन्हें 'कुफ्र' जैसी जान पड़ती है।

वस्तुओं को जमा करने की लत

पहले उत्सवों में आनंद के लिए शराब पी जाती थी। अब जीवन की नीरसता और ऊब से छुटकारे के लिए शराब पी जाती है। इस तरह उन समूहों में जिनका काम सबसे नीरस है या जिनकी जिंदगी अर्थहीन बन गई है, उनमें शराबीपन सबसे अधिक फैल रहा है। लेकिन शराब,चाय,कॉफी या कोकोकोला का नशा थोड़ा सीमित है। जो सबसे बड़ी अफीम लोगों को अपनी स्थिति को भूलने के लिए इस संस्कृति ने दी है वह उपभोग की वस्तुओं को जमा करने की लत। यह अधिक से अधिक समय तक लोगों को व्यस्त रख सकती है। कुछ समय दुकानों की सजी खिड़कियों में झाँककर नई वस्तुओं के 'अन्वेषण' में लगता है, फिर कुछ समय उन्हें उपलब्ध करने या उसके लिए साधन जुटाने की योजना में और अंत में घर में लाने पर उनके रख-रखाव में। धर्म नहीं, जैसा मार्क्स ने कहा था, आधुनिक युग की अफीम तो उपभोक्तावादी हविस है। इस हविस के अधीन होने पर वस्तुओं को पाने की कल्पना में मजदूर भी अपनी सामाजिक स्थिति भूल जाता है और अपने वर्ग-स्वार्थ की रक्षा के लिए शोषकवर्ग से संघर्ष करने के बजाय उस वर्ग की जीवन पद्धति की ओर ललचाई दृष्टि से देखने लगता है और एक हद तक उसका प्रशंसक बनकर उसके मूल्यों को आत्मसात कर लेता है। पश्चिमी दुनिया में इस हविस के कारण समाज परिवर्तन की शक्ति बनने के बजाय, उपभोक्तावादी मूल्यों का शिकार मजदूर अब पूँजीवादी व्यवस्था का जबरदस्त स्तंभ बन गया है।

समता और बंधुत्व के मूल्यों का लोप

मजदूरवर्ग की क्रांतिकारिता का क्षरण समता और बंधुत्व के मूल्यों को लाँघकर उपभोक्तावादी मूल्य अपनाने से ही हुआ है। उपभोक्तावादी समाज ने दो

मान्यताओं को जन्म दिया है। एक तो यह कि उपभोग की जो वस्तुएँ आज कुछ लोगों को उपलब्ध हैं वे धीरे-धीरे सबों को उपलब्ध हो सकती हैं, और दूसरी यह कि समता अपने आप में कोई साध्य नहीं है। इस तरह समता और संपन्नता को दो विसंगतियों के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा है। चूँकि इस मत के अनुसार पूँजीवादी समाज संपन्नता दे सकता है अतः समता की बात अप्रासंगिक हो गई है। कहा जाएगा कि यह ठीक है कि कुछ लोग सीढ़ी के उच्चतम स्तरों पर हैं और बाकी के लोग नीचे की सीढ़ियों पर,लेकिन चूँकि ये सीढ़ियाँ 'स्केलेटर' (चलती हुई यांत्रिक सीढ़ी जिस पर चढ़ते ही अपने आप आदमी ऊपर पहुँचने लगता है।) की हैं सारे लोग ऊपर जा रहे हैं—नीचेवाले भी और जो ऊपर हैं वे भी। अगर इन दोनों के बीच की दूरी नहीं मिटती, अगर उनके बीच बीसियों स्तरों के भेद हैं तो क्या फर्क पड़ता है? सच तो यह है कि उपभोक्तावादी संस्कृति, समाज को किसके पास क्या उपभोग की वस्तुएँ उपलब्ध हैं, इस आधार पर असंख्य वर्गों में बाँटती जाती है और उनके बीच भावनात्मक भेद पैदा करती है। कोई आश्चर्य की बात नहीं कि मार्क्स की कल्पना के विपरीत पश्चिम के विकसित पूँजीवादी समाज में, जहाँ उपभोक्तावाद पूरी तरह हावी है,मजदूरों की वर्ग-चेतना नष्ट हो गई और बड़ी तादाद में मजदूर अपने को भावना के स्तर पर मध्यमवर्ग में शामिल करने लगे हैं क्योंकि मालिक मजदूरों के भेद के बजाय उपभोक्तावादी मानक के हिसाब से, मजदूरों के आपसी भेद रोजमर्रा की जिंदगी में ज्यादा उजागर होते रहते हैं।

मजदूरों की चेतना पर उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव का एक आँख खोलनेवाला परिणाम 1968 में फ्रान्स में देखने को मिला। उस समय पश्चिमी देशों के युवावर्ग और खासकर छात्रों में पूँजीवाद और उससे जुड़े उपभोक्तावादी मूल्यों के विरुद्ध एक व्यापक विद्रोह की लहर दौड़ गई थी। इसका एक ऐसा विस्फोट 1968 के मई महीने में फ्रान्स में हुआ कि वहाँ की हुकूमत गहरे संकट में पड़ गई थी। सौरबोन विश्वविद्यालय के छात्रों ने पेरिस में 'बैरिकेड' (विद्रोह के समय ईंट-पत्थर तथा अन्य वस्तुओं का अवरोध खड़ा कर एक तरह की अस्थायी किलेबंदी, जिसकी यूरोप की क्रांतियों में एक लंबी परंपरा रही है।) खड़ा करना शुरू किया। विद्रोह की शुरुआत उपभोक्तावादी मूल्यों की प्रतीक मोटरगाड़ियों को जलाने से हुई। लेकिन मजदूरवर्ग और कम्युनिस्ट पार्टी, दोनों उपभोक्तावादी समाज के दबावों से पक्षाघात का शिकार हो जाने के कारण अनिर्णय की स्थिति में रहे या आंदोलन के विरोध में रहे। इस तरह मजदूरों के समर्थन के अभाव में यह विद्रोह क्रांति का रूप ले सके इसके पहले ही समाप्त हो गया।

अगर हम अपने समाज पर ही नजर डालें तो पाएँगे कि कैसे उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रभाव से लोगों का आपसी विभाजन गहरा हो रहा है।

जाति-व्यवस्था के तमाम दोष अपनी जगह पर हैं, लेकिन कुछ दशक पहले तक कम से कम जाति-बिरादरीवालों में आपस में एक बराबरी का संबंध रहता था जिसका प्रतीक साथ का हुक्का-पानी हुआ करता था। लेकिन जैसे-जैसे इस नई संस्कृति ने अपना प्रभाव बढ़ाया है, गाँवों में भी कुछ संपन्न लोगों के घरों में सोफासेट, टेलीविजन आदि आने लगे हैं। अब चटाई पर बैठनेवाले और सोफा पर बैठनेवाले एक ही बिरादरी के लोगों के बीच एक बड़ी दीवार खड़ी हो रही है। यह कहना ज्यादा सही होगा कि बिरादरी के बाहर सोफासेटवालों की एक अलग बिरादरी खड़ी हो रही है।इस तरह जहाँ थोड़ा-बहुत समुदाय का भाव था वह भी नष्ट होता जा रहा है। वस्तुओं की दीवारों से लोग एक-दूसरे से कटते जा रहे हैं। इसका एक परिणाम यह होता है कि आध्यात्मिक खोखलेपन से पैदा जिस ऊब से उबरने के लिए वस्तुओं का संग्रह किया जाता है, वह ऊब और भी बढ़ती जाती है।

आदमी का अकेलापन

आदमी के अस्तित्व की सबसे बड़ी असलियत संसार में उसका अकेलापन है। हमारा क्या होता है, हम जीते हैं या मरते हैं, खुशियाँ मनाते हैं या पीड़ा से कराहते हैं इसका कोइ प्रभाव सृष्टि पर नहीं पड़ता। सूरज,तारे, चाँद, धरती या हमारे आँगन में उगी घास या खिले फूल हमारी स्थिति से असंपृक्त अपने निर्दिष्ट जीवन-पथ पर बढ़ते चले जाते हैं। इस बात के एहसास ने पश्चिम में अस्तित्ववादी दर्शन की ओर झुकाव पैदा किया, जिसमें ऊब और अनास्था का दारुण स्वर सुनाई पड़ता है। आदमी ने कला,विज्ञान आदि के जरिए इस दुनिया को अर्थवान बनाकर एक सीमा तक अपने जीवन को भी अर्थवान यानी एक वृहत् डिजाइन का हिस्सा बनाने की कोशिश की है। लेकिन आदमी चाहे जो कल्पना कर ले कभी भी प्रकृति के साथ संप्रेषण नहीं स्थापित कर सकता। उसके अकेलेपन को कोई सचमुच में अगर तोड़ सकता है तो दूसरा आदमी ही। अपनी संपूर्ण अनुभूति में आदमी फिर भी अकेला है और कोई उपाय नहीं जिससे वह अपनी पूरी अनुभूति को दूसरे के लिए संप्रेषित कर सके। लेकिन एक सीमा के भीतर भावों से, शब्दों से, संगीत से वह अपनी आंतरिक पीड़ा या खुशी दूसरे मनुष्यों तक पहुँचा सकता है। इस संप्रेषण से उसकी ऊब और उसका अकेलापन टूटता है। स्वभाव से आदमी अपने सुख और अपनी पीड़ा में अधिक से अधिक लोगों को शामिल करने में गहरे संतोष का अनुभव करता है। इसीलिए उसे विस्तृत मानव समुदाय की चाह होती है। कोई भी वस्तु जो उन्मुक्त संप्रेषण में रुकावट डालती है, वह आदमी के

अकेलेपन को बढ़ाती है। उपभोक्तावादी संस्कृति वस्तुओं के आधार पर अलग- अलग घेरों में मनुष्यों को बाँटकर संप्रेषण की संभावना को खत्म करती है क्योंकि इससे उनके अनुभव के दायरे अलग हो जाते हैं जबकि संप्रेषण के लिए अनुभव के बीच सामंजस्य का होना आवश्यक है। इस तरह उपभोक्तावाद के कारण एक-दूसरे से कटे आदमी की ऊब और गहरी होती जाती है। इस ऊब से वस्तुओं की भूख और भी बढ़ती है। इस दुश्चक्र के कारण जीवन में सार्थकता की तलाश मृग-मरीचिका बन जाती है। इस दृष्टि से उपभोक्तावादी संस्कृति समतावादी संस्कृति के ठीक विपरीत स्थिति बनाती है।

एकाकी सुख

यह कोई आकस्मिक बात नहीं कि उपभोक्तावादी समाज में मनोरंजन के साधन उत्तरोत्तर ऐसे बनते जा रहे हैं जिनमें सामूहिक आनंद का स्थान एकाकी सुख ले रहा है। पहले सामूहिक नृत्य-गान आदि में एक मिली-जुली खुशी का अनुभव होता था। उपभोक्तावादी संस्कृति में मनोरंजन का प्रतीक और उसका सबसे विकसित साधन टेलीविजन है जिसमें कहीं किसी सामूहिक हिस्सेदारी की गुंजाइश नहीं होती। हर दर्शक अकेला, एक निर्जीव मशीन पर आँखें चिपकाए अपने तात्कालिक परिवेश से कटा बैठा रहता है। दर्शक टेलीविजन पर विभिन्न भूमिकाओं में आनेवालों से बिलकुल कटा होता है। दर्शक की खुशी या दुख की अभिव्यक्ति उसी तक सीमित रहती है। उसका कोई समुदाय नहीं बन पाता। अगर उसका कोई भावनात्मक लगाव बन पाता है तो उनके साथ जिनकी कोई भूमिका टेलीविजन पर होती है और जो स्वयं इस भावना से निर्लिप्त मात्र छाया हैं। फिर टेलीविजन के संचालकों द्वारा इस भावना का व्यावसायिक या राजनीतिक उपयोग दर्शकों को अपनी मरजी के अनुसार किसी दिशा में हाँकने के लिए किया जा सकता है। यह बिलकुल एकतरफा व्यापार है जिसमें दर्शकों की अभिव्यक्ति की कोई संभावना नहीं बनती। प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में देवताओं की आकाशवाणी की तरह इसमें द्रष्टा-श्रोता के लिए सिर्फ संदेश-आदेश ही होते हैं जो निर्मम रूप से श्रोता-दर्शक की भावनाओं से असंपृक्त होते हैं क्योंकि टेलीविजन या रेडियो पर अभिनय करनेवाले, असली नहीं काल्पनिक लोगों के लिए अभिनय करते हैं। कहीं अभिनेता-वक्ता और दर्शक-श्रोता के बीच कोई 'फीडबैक' (प्रतिक्रिया और परिणाम की जानकारी) नहीं होता जिससे कि अभिनेता-वक्ता अपनी भूमिका में लोगों की भावना के अनुरूप कोई रुझान लाने की जरूरत महसूस करे।

कोई आश्चर्य नहीं कि सबसे पहले हिटलर ने रेडियो का लोगों को मानसिक रूप से बंदी बनाने के लिए उपयोग किया था।

पूँजीवाद के संकट को टालने का औजार

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली से उपजी यह उपभोक्तवादी संस्कृति पूँजीवाद के संकट को टालने का भी सबसे कारगर औजार है। ऊपर इस बात की चर्चा की गई है कि कैसे यह संस्कृति मजदूरवर्ग की वर्ग-चेतना और समाज-परिवर्तन की आकांक्षा को नष्ट करती है, लेकिन इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण इसकी भूमिका पूँजीवादी उत्पादन को चालू रखने में है। वैज्ञानिक सूक्ष्मता के बिना भी मोटेतौर पर हम पूँजीवादी उत्पादन के आधार और उसकी समस्याओं को नीचे दिए गए ढंग से समझ सकते हैं जिसके पीछे मार्क्स तथा उसके समकालीन कुछ अन्य अर्थशास्त्रियों का चिंतन है।

पूँजीवादी उत्पादन में पूँजीपतियों के मुनाफे का आधार मजदूरी के श्रम का शोषण होता है। उदाहरण के लिए अगर मजदूर किसी पूँजीपति के यहाँ 8 घंटे काम करता है तो उसके एवज में वह अपने पूरे श्रम का मूल्य नहीं पाता । उसे 5-6 घंटे या और कम या अधिक समय के काम करने की ही मजदूरी मिलेगी।दो या तीन घंटे के श्रम से पैदा हुई वस्तु को ही, जिसके बदले मजदूर को मजदूरी नहीं मिलती, बेचकर मालिक यह अतिरिक्त मूल्य पाता है जो उसने मजदूरों की पूरी 8 घंटे की मजदूरी में से काट लिया होता है। यही अतिरिक्त मूल्य जमा होकर, क्योंकि ऐसा मूल्य उसे सैकड़ों या हजारों मजदूरों से वर्षों तक प्राप्त होता रहता है, उसकी पूँजी का स्रोत बनता है। लेकिन यहाँ उत्पादित माल की खपत के लिए बाजार की समस्या पैदा हो जाती है। मजदूर ने तो 8 घंटे के काम के बराबर वस्तुओं का निर्माण किया है, लेकिन अगर उसे 6 घंटे के काम की ही मजदूरी मिली तो वह 6 घंटे के काम के बराबर की ही वस्तुएँ खरीद सकेगा। फिर सवाल उठता है कि जो बाकी 2 घंटे की मजदूरी से उत्पादित वस्तुएँ होंगी उन्हें कौन खरीदेगा? पूँजीपति खरीद सकते हैं। लेकिन अगर हम सभी पूँजीपतियों को समेटकर एक काल्पनिक पूँजीपति के रूप में देखते हैं, तो पाते हैं कि चूँकि उसकी पूँजी का स्रोत वस्तुओं की बिक्री से प्राप्त मुनाफा है, अतः जब तक वस्तुओं की बिक्री नहीं होती पूँजीपति के हाथ में भी खरीदने के लिए पैसा नहीं होगा। यह मान लिया गया है कि पूँजीवादी समाज में आमदनी के दो ही मूल स्रोत हैं, मजदूरों की मजदूरी और पूँजीपतियों का मुनाफा, बाकी सभी लोगों की आमदनी या तो पूँजीपतियों के मुनाफे से आती है या मजदूरों की मजदूरी में से। अगर पैसा हो भी तो पूँजीपति अपने तमाम मुनाफे के बराबर वस्तुओं को नहीं खरीद सकते क्योंकि उनकी संख्या सीमित है। अतः वे कितना भी

खर्च उपभोग पर क्यों न करें, वे उत्पादित अतिरिक्त मूल्य के बराबर उपभोग पर खर्च नहीं कर सकते। इसका एक बड़ा अंश वे उत्पादन के लिए जरूरी वस्तुओं जैसे मशीन आदि के खरीदने पर खर्च कर सकते हैं। लेकिन अगर उपभोग की वस्तुओं की खपत रुकी रही तो उत्पादन पर लगी नई पूँजी से जो नए उपभोग की वस्तुएँ बनेंगी उनसे यह संकट और भी गहरा होगा क्योंकि जब तक मशीन से बनी वस्तुओं की खपत नहीं होती नई मशीन बिठाना निरर्थक होगा, क्योंकि उत्पादित माल के लिए पहले ही से बाजार में मंदी है।

कुछ हद तक सरकार पूँजीपतियों को इस संकट से बचाती है वह नोट छापकर पैसों का जुगाड़ कर देती है और इससे कुछ सेवा-क्षेत्रों में खर्च करती है पर वह विशेषकर युद्ध के सामान की खरीद करती है जिसकी उपयोगिता नहीं होती लेकिन सुरक्षा के नाम पर जिसके उत्पादन की कोई सीमा भी नहीं, क्योंकि नित्य नए हथियार ईजाद होते रहते हैं और पुराने रद्दी होकर बेकार होते जाते हैं। इसके अलावा वस्तुओं को गैर-पूँजीवादी क्षेत्रों में बेचने का प्रयास होता है। फिर स्वयं पूँजीपतियों के यहाँ काम करनेवाले मजदूरों या सेवा कार्य में लगे मजदूरों के भविष्य की आय 'हायर-परचेज' योजना के अंदर वस्तुओं की बिक्री के लिए समेट ली जाती है । लेकिन चूँकि पूँजी के विकास के लिए यह दबाव निरंतर बना रहता है कि उत्पादन का फैलाव होता रहे क्योंकि बिना उत्पादन और इससे प्राप्त मुनाफे के पूँजीवाद का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। अतः इस बात का निरंतर प्रयास होता है कि लोगों में उत्तरोत्तर उपभोगवृत्ति को तेज किया जाए जिससे ग्राहकों का अभाव न हो। इस तरह उपभोक्तावादी संस्कृति उपभोग की प्रवृत्ति को निरंतर उकसाकर पूँजीवादी उत्पादन को जीवित रखती है।

समाजवादी कल्पना पर कुठाराघात

इस उपभोक्तावादी दबाव ने मानव भविष्य की समाजवादी कल्पना की जड़ ही खत्म कर दी है। मार्क्स तथा कई अन्य समाजवादियों की यह अवधारणा थी कि भविष्य में समाज में उत्पादन का स्तर इतना ऊँचा उठ जाएगा कि मानव-आवश्यकता की वस्तुएँ उसी तरह उपलब्ध हो सकेंगी जैसे हवा या पानी उपलब्ध है। इससे आवश्यक वस्तुओं के अभाव से होनेवाली छीना-झपटी खत्म हो जाएगी और नया आदमी अपना अधिकांश समय मानवीय-बोध के विशिष्ट क्षेत्रों, जैसे कला तथा दर्शन के विकास में लगाएगा। कई लोगों ने यह कल्पना की कि जैसे प्राचीन यूनान के कुछ नगर-राज्यों में गुलाम सारे शारीरिक श्रम का काम करते थे और नागरिक राजनीति,कला,दर्शन आदि विषयों में अपना समय

लगाते थे, उसी तरह भविष्य में मशीनें वैसे सारे काम जो आदमी को अरुचिकर लगते हैं, करने लगेंगी और आदमी का सारा समय बौद्धिक विकास में लगेगा। यह बहुत ही मोहक कल्पना थी। लेकिन इस कल्पना के पीछे यह मान्यता जरूर थी कि आदमी की जरूरतें सीमित हैं और एक समतामूलक समाज में मशीनों की मदद से थोड़े श्रम से इन जरूरतों की पूर्ति सब लोगों के लिए हो सकेगी। लेकिन उपभोक्तावाद ने आदमी की जरूरतों को एक ऐसा मोड़ दिया है कि वे उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असीमित होती जा रही हैं और बौद्धिक चिंतन के बजाय मनुष्य की सारी चिंता, सारा श्रम और सारे साधन इन नई जरूरतों की पूर्ति के लिए अनंतकाल तक लगे रहेंगे, हालाँकि प्राकृतिक साधनों के क्षय, प्रदूषण आदि से अपनी वर्तमान गति से आदमी की यह यात्रा अल्पकाल में ही समाप्त हो जाएगी।

इस विकास का एक प्रभाव यह पड़ा है कि विकसित पश्चिमी देशों में धीरे-धीरे यह अवधारणा बढ़ रही है कि मानव-बोध के वे सारे क्षेत्र जिनमें कल्पना का संबंध किसी प्रयोग से नहीं बन पाता, कला का संबंध किसी निजी या सामूहिक सजावट या उत्तेजना से नहीं बन पाता, वे सब अप्रासंगिक हैं। एक उपभोक्तावादी समाज हर वस्तु को उपभोग की कसौटी पर कसता है। ऐसा चिंतन जो प्रयोग के दायरे में नहीं आता कभी उपभोग के दायरे में भी नहीं आ सकता भले ही संप्रेषित होकर वह दूसरे मानव मस्तिष्क में एक नया बोध या सपनों का एक सिलसिला उत्प्रेरित करे, उपभोक्तावादी समाज के लिए निरर्थक हैं क्योंकि वह सपनों या कल्पना से बचना चाहता है। उसके लिए कल्पना की सीमा वे ठोस वस्तुएँ हैं जिन्हें वह छू सकता है, खरीद सकता है और जिनसे अपने घरों को सजा सकता है। इस तरह उपभोक्तावादी संस्कृति धीरे-धीरे मानव-बोध की उस विशिष्टता को नष्ट कर देती है जो मनुष्यों को अन्य जीवों से अलग करती है—यानी ठोस वस्तुओं से ऊपर उठकर कल्पना, अनुमान, प्रतीक आदि के स्तरों पर जीने की विशिष्टता। इस तरह उपभोक्तावादी संस्कृति एक तरफ थोक मशीनी उत्पादन के जरिए वस्तुओं से सृजन का तत्व निकाल देती है तो दूसरी ओर मानव-बोध से कल्पना की संभावना को।

लेकिन कोई भी मानव-भविष्य के समाजवादी या गैर-समाजवादी युटोपिया (कल्पनिक आदर्श) का उद्देश्य मनुष्य को उस स्थिति से मुक्त करने का रहा है जिसमें उसके व्यक्तित्व का चतुर्दिक विकास अवरुद्ध होता है। यही कारण है कि समाजवादी आंदोलन के पीछे वही मानवता काम करती रही है जो किसी बड़े धार्मिक उत्थान के पीछे होती है। इसी से हजारों लोगों को अपने उद्देश्यों के लिए अपने आप को बलि कर देने की प्रेरणा मिलती रही है। इसी कारण अपने विशुद्ध अर्थ में समाजवाद की राजनीति अन्य तरह की राजनीति से

अलग रही है। मोटेतौर से राजनीति का केंद्रबिंदु संपत्ति का एक या दूसरी तरह से बँटवारा रहा है। राजनीति के मुद्दे होते हैं—कौन संपत्ति का हकदार होगा, किस व्यक्ति या समूह को किस भूमि या भूभाग पर अधिकार मिलेगा, किसकी क्या आमदनी होगी? और इन्हीं से जुड़ा यह सवाल कि किस व्यक्ति या समूह की क्या सामाजिक राजनीतिक हैसियत होगी। जब मार्क्स ने यही बात कही थी तो उस समय यह कुछ चौंकानेवाली बात लगी थी। लेकिन आज सभी लोग इस सच्चाई को मानने लगे हैं । इस कारण उन लोगों के सामने जिन्होंने नए तरह के समाज के निर्माण की कल्पना की थी, नक्शा ऐसे 'आर्थिक-मनुष्यों' का समाज बनाने का नहीं था। इस निरंतर चलनेवाले संपत्ति के बँटवारे की ऊहापोह को लेकर कोई मनीषी क्यों अपना पूरा जीवन लगाता? समाजवाद की कल्पना के पीछे असली भावना आदमी के जीवन को संपत्ति और उसके उन प्रतीकों से मुक्त करना था, जो उसे गुलाम बनाते हैं तथा उसके समुदायभाव को नष्ट करते हैं। इससे एक पूर्ण उन्मुक्त मानव की कल्पना जुड़ी थी। उपभोक्तावाद असंख्य नई कड़ियाँ जोड़कर मनुष्य पर संपत्ति की जकड़न को मजबूत करता है और इसलिए हमारे युग में समाजवाद के सीधे प्रतिरोधी के रूप में उभरता है।

भारत और उपभोक्तावादी संस्कृति

विकसित पूँजीवादी देशों में, जैसा कि ऊपर कहा गया है, उपभोक्तावादी संस्कृति उत्पादन प्रक्रिया को बिना पूँजीवादी मूल्यों और ढाँचे को तोड़े चालू रखने और विकसित करने में सहायक होती है। लेकिन दुनिया के गरीब देशों में इस संस्कृति का असर इसके ठीक विपरीत होता है। भारत जैसे गरीब देशों में जहाँ साम्राज्यवादी संपर्क से परंपरागत उत्पादन का ढाँचा टूट गया है और लोगों की बुनियादी जरूरतों की पूर्ति के लिए उत्पादन के तेज विकास की जरूरत है, वहाँ उपभोक्तावाद के असर से विकास की संभावनाएँ कुंठित हो गई हैं। पश्चिमी देशों के संपर्क से इन देशों में एक नया अभिजातवर्ग पैदा हो गया है जिसने इस उपभोक्तावादी संस्कृति को अपना लिया है।इस वर्ग में भी उन वस्तुओं की भूख जग गई है जो पश्चिम के विकसित समाज में मध्यमवर्ग और कुशल मजदूरों के एक हिस्से को उपलब्ध होने लगी हैं। इन वस्तुओं की उपलब्धि से उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा में भी बढ़ोत्तरी हो जाती है। अतः इस अभिजातवर्ग में और इसकी देखा-देखी इससे नीचे के मध्यम और निम्न-मध्यमवर्ग में भी मोटरकार, एयरकंडीशन मशीन, फ्रिज और विभिन्न तरह के सामान और प्रसाधनों को प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा जग गई है। हमारे

देश में इसके दो सामाजिक परिणाम हुए हैं। पहला, चूँकि यही वर्ग देश की राजनीति में शीर्ष स्थानों पर है, देश के सीमित साधनों का उपयोग धड़ल्ले से लोगों की आम आवश्यकता की वस्तुओं का निर्माण करने के बजाय वैसे उद्योगों और सुविधाओं के विकास के लिए हो रहा है जिनसे इस वर्ग की उपभोक्तावादी आकांक्षाओं की पूर्ति हो सके। चूँकि उत्पादन का यह क्षेत्र अतिविकसित तकनीकी का और पूँजी प्रधान है, इन उद्योगों के विकास से विदेशों पर निर्भरता बढ़ती है। मशीन, तकनीक और गैरजरूरी वस्तुओं के आयात पर हमारे सीमित विदेशी मुद्राकोष का क्षय होता है, और हमारा सबसे विशाल आर्थिक साधन जिसके उपभोग से देश का तेज विकास संभव था—यानी हमारी श्रमशक्ति बेकार पड़ी रह जाती है। जिन क्षेत्रों में देश का विशाल जनसमुदाय उत्पादन में योगदान दे सकता है उनकी अवहेलना के कारण आम लोगों के जीवन-स्तर का या तो विकास नहीं हो पाता या वह नीचे गिरता है।

दूसरा, चूँकि उपभोक्तावाद व्यापक गरीबी के बीच खर्चीली वस्तुओं की भूख जगाता है, उससे भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिलता है। चूँकि अभिजातवर्ग में वस्तुओं का उपार्जन ही प्रतिष्ठा का आधार है, चाहे इन वस्तुओं को कैसे भी उपार्जित किया जाए, भ्रष्टाचार को खुली छूट मिल जाती है। कम आयवाले अधिकारी अपने अधिकार का दुरुपयोग कर जल्दी से जल्दी धनी बन जानना चाहते हैं ताकि अनावश्यक सामान इकट्ठा कर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकें। इसी का एक वीभत्स परिणाम दहेज को लेकर हो रहा औरतों पर अत्याचार भी है। बड़ी संख्या में मध्यमवर्ग के नौजवान और उनके माता-पिता, जो अपनी आय के बल पर शान बढ़ानेवाली वस्तुओं को नहीं खरीद सकते, दहेज के माध्यम से इस लालसा को मिटाने का सुयोग देखते हैं। इन वस्तुओं का भूत उनके सिर पर ऐसा सवार होता है कि उनमें राक्षसी प्रवृत्ति जग जाती है और वे बेसहारा बहुओं पर तरह-तरह का अत्याचार करने या उनकी हत्या करने तक से नहीं हिचकते। बहुओं की बढ़ रही हत्याएँ इस संस्कृति का सीधा परिणाम हैं। अपहरण जैसे अपराधों के पीछे भी कुछ ऐसी ही भावना काम करती है। राजनीतिक भ्रष्टाचार का तो यह मूल कारण है। राजनीतिक लोगों के हाथ में अधिकार तो बहुत होते हैं, लेकिन जायज ढंग से धन उपार्जन करने की गुंजाइश कम होती है। चूँकि उनकी प्रतिष्ठा उनके रहन-सहन के स्तर पर निर्भर करती है,उनके लिए अपने अधिकारों का दुरुपयोग कर धन इकट्ठा करने का लोभ संवरण करना मुश्किल हो जाता है।

इस तरह समाज में जिनके पास धन व पद है और भ्रष्टाचार के अवसर हैं, उनके और आम लोगों के जीवन-स्तरो के बीच की खाई बढ़ती जाती

है। इससे भी शासक और शासितों के बीच का संवाद-सूत्र टूटता है। सत्ताधारी लोग आम लोगों की आवश्यकताओं के प्रति संवेदनहीन हो जाते हैं और उत्पादन की दिशा अधिकाधिक अभिजातवर्ग की आवश्यकताओं से निर्धारित होने लगती है।इधर आम जरूरतों की वस्तुओं के अभाव में लोगों का असंतोष उमड़ता है तथा आंदोलन एवं उथल-पुथल की भूमिका तैयार होती है। इस स्थिति मे उबरने के लिए शासकवर्ग अधिनायकवादी तरीकों से जनआंदोलनों से निपटना चाहता है। गरीब दुनिया के अधिकतर देशों में राजनीति का ऐसा ही आधार बन रहा है जिसमें संपन्न अल्पसंख्यक लोग छल और आतंक के द्वारा आम लोगों के हित के खिलाफ शासन चलाते हैं।

भारत के गाँवों में जो थोड़ा-बहुत स्थानीय आर्थिक आधार था उसको भी इस संस्कृति ने नष्ट किया है। भारतीय गाँवों की परंपरागत अर्थव्यवस्था काफी हद तक स्वावलंबी थी और गाँव की सामूहिक सेवाओं, जैसे सिंचाई के साधन, यातायात या जरूरतमंदों की सहायता आदि की व्यवस्था गाँव के लोग खुद कर लेते थे। यह व्यवस्था जड़ और जर्जर जरूर हो गई थी और ग्रामीण समाज में काफी गैरबराबरी भी थी, फिर भी सामूहिकता का एक भाव था। हाल तक गाँवों में पैसेवालों की प्रतिष्ठा इस बात से होती थी कि वे सार्वजनिक कामों, जैसे कुँआ,तालाब आदि खुदवाने, सड़क मरम्मत करवाने, स्कूल और औषधालय आदि खुलवाने पर धन खर्च करें। इन पर काफी खर्च होता था और आजादी के पहले इस तरह की सेवा-व्यवस्था प्रायः ग्रामीण लोगों के ऐसे अनुदान से ही होती थी। यह संभव इसलिए होता था क्योंकि गाँवों के अंदर धनी लोगों की भी निजी आवश्यकताएँ बहुत कम थीं और वे अपने धन का व्यय प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए ऐसे कामों पर करते थे। इसी कारण पश्चिमी अर्थशास्त्रियों और समाजशास्त्रियों की हमेशा यह शिकायत रहती थी कि भारतीय गाँवों के उपभोग का स्तर बहुत नीचा है, जो उद्योगों के विकास के लिए एक बड़ी बाधा है। इन लोगों की दृष्टि में औद्योगिक विकास की प्रथम शर्त थी अंतरराष्ट्रीय बाजार और विनिमय में शामिल हो जाना।

उपभोक्तावादी संस्कृति ने गाँवों की अर्थव्यवस्था के इस पहलू को समाप्त कर दिया है। अब धीरे-धीरे गाँवों में भी संपन्न लोग उन वस्तुओं के पीछे पागल हो रहे हैं जो उपभोक्तावादी संस्कृति की देन हैं। चूँकि गाँव के संपन्न लोगों की संपन्नता भी सीमित ही होती है अब उनका सारा अतिरिक्त धन जो पहले सामाजिक कार्यों में खर्च होता था वह अब निजी तामझाम पर खर्च होने लगा है और लोग गाँव के छोटे से छोटे सामूहिक सेवा कार्य के लिए सरकारी सूत्रों पर आश्रित होने लगे हैं। इसके अलावा जो भी थोड़ा साधन

गाँवों के भीतर से उनके विकास के लिए प्राप्त हो सकता था, अब उद्योगपतियों की तिजोरियों में जा रहा है। इससे गाँवों की गरीबी, दैन्य और दरिद्रता में बदलती जा रही है।

उपसंहार

यह पुस्तिका आज से लगभग तीस वर्ष पहले प्रकाशित हुई थी। इस बीच दुनिया में बहुत उथल-पुथल और बदलाव आए हैं। लेकिन उपभोक्तावादी संस्कृति के बारे में जो मूल अवधारणा व्यक्त की गई है उसको बदलने की कोई जरूरत नहीं लगती। उपभोक्तावादी संस्कृति आधुनिक औद्योगीकरण के साथ विकसित हुई है और इसको बल भी देती रही है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया को आकर्षक बनाने में इसकी भी एक महत्वपूर्ण भूमिका रही है। औद्योगीकरण की प्रक्रिया से पैदा सामाजिक अंतर्विरोधों को इसने और भी तीव्र किया है। सोवियत रूस और माओ के चीन, दोनों में समता का आदर्श ध्वस्त हो गया और तथाकथित साम्यवादी व्यवस्थाएँ खत्म हो गईं। इनकी जगह निर्मम पूँजीवादी व्यवस्थाएँ कायम हुईं। इस प्रक्रिया के पीछे उपभोक्तावादी तामझाम की आकांक्षा का हावी होना भी एक कारक था। उपभोग की नई संभावनाओं की ललक उत्पादन और वितरण की किसी व्यवस्था को स्थिर नहीं होने देती। इस तरह महत्वाकांक्षा और प्रतिद्वंद्विता समतावादी मूल्यों पर हावी हो जाती है। तथाकथित कम्युनिस्ट व्यवस्थाओं के ध्वस्त होने के दूसरे कारण भी गिनाए जा सकते हैं,लेकिन उपभोक्तावाद के दबाव में समता के आदर्शों का लोप भी एक प्रमुख कारण था।

भोग की लालसा एक स्वाभाविक रुझान है जो सभी पारंपरिक समाजों में रही है। लेकिन उपभोक्तावादी संस्कृति वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था को कायम रखने और इसे त्वरण देने का एक अनिवार्य उपकरण है। इसमें वैयक्तिक स्तर पर कुछ भी स्वाभाविक नहीं है। यह औद्योगिक व्यवस्था द्वारा प्रायोजित उपकरण है जिसे व्यक्ति आत्मसात कर निजी आकांक्षा में बदल लेता है।

अर्थ जगत में स्वयंसिद्ध सी प्रचलित बातें जैसे—'उपभोक्ताओं की पसंद का सर्वोपरि होना' या 'उपभोक्ताओं के लोकतंत्र' की जो बात बार-बार दुहराई जाती है वह शायद हम लोगों के समय का सबसे बड़ा भ्रम है। कहीं भी उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन लोगों की पसंद के हिसाब से नहीं होता। कुछ पारंपरिक खाद्य पदार्थों के परे आम आदमी में नए उत्पादों की कोई कल्पना नहीं होती। यह कहावत कि 'आवश्यकता आविष्कार की जननी है' किसी ऐसे अतीत की बात है जो हमारी जानकारी में नहीं है। वर्तमान काल में जबसे हम आधुनिक

औद्योगिक सभ्यता से रूबरू हैं, स्थिति बिलकुल उल्टी है। आवश्यकताओं का आविष्कार किया जाता है और तब उन्हें लोगों की जरूरत बनाया जाता है। सबसे ताजा उदाहरण मोबाइल फोन का है। इसकी जरूरत तो दूर, इसकी कल्पना भी आज से पचास साल पहले किसने की थी! पर आज लगभग घर-घर इसका प्रसार हो चुका है। इसके कार्यक्षेत्र का लगभग रोज फैलाव हो रहा है। इसके साथ कैमरा से लेकर कंप्यूटर तक के काम जोड़े जा रहे हैं और नए उपकरण तैयार हो रहे हैं। इनमें प्रत्येक का पहले आविष्कार हो जाता है और बाद में विज्ञापित कर लोगों क पास इन्हें पहुँचाया जाता है। अब यह लोगों की आवश्यकता बन जाती है। आविष्कार पहले आर आवश्यकता बाद में आती है। लोगों के लिए नए आविष्कारों को आवश्यकता बनाने में आधुनिक विज्ञापन की अहम भूमिका होती है। धीरे-धीरे फैशन बनकर वे जीवन को प्रभावित करने लगते हैं। प्रसिद्ध लेखक जॉर्ज बनार्ड शॉ ने कहीं व्यंग्य में लिखा है कि अगर नाक फैशन बन जाए तो धीरे-धीरे लोगों की नाक 'पंच' (एक कॉमिक चरित्र) की तरह लंबी होने लगेगी।

मुझे अपने बचपन की याद है। उस समय हमारे यहाँ चाय पीनेवाले लोग शहरों में भी इक्के-दुक्के ही थे। कोई न इसका स्वाद जानता था और न गुण - अवगुण। लेकिन उसी समय बड़े-बड़े होर्डिंग लगने लगे थे—'सताती है हमको न मिहनत न सुस्ती, गरम चाय पीने से आती है फुर्ती।' साथ-साथ लोगों को न सिर्फ घूम-घूमकर मुफ्त चाय पिलाई जाती थी बल्कि मुफ्त इसकी पुड़िया भी दी जाती थी। अब होर्डिंग गायब हैं लेकिन सुबह-सुबह, गाँव-गाँव गरीब और अमीर सभी घरों में चाय पी जाने लगी है। स्पष्ट है, यहाँ उपभोक्ता की पसंद बनाई गई है; चाय उपभोक्ता की पसंद की वजह से बाजार में नहीं आई।

लोगों को गैरजरूरी चीजों का आदी बनाने में आज 'मॉल' संस्कृति का विशेष हाथ है। अब गली-गली आर घर-घर घूमकर नई वस्तुओं को पाने की ललक नहीं पैदा की जाती बल्कि लोग ही वैसी जगह पहुँचते हैं जहाँ तरह-तरह से आकर्षित करनेवाली वस्तुओं को सजधज के साथ लुभानेवाली अदा में उनके सामने प्रस्तुत किया जाता है। शायद यहाँ 'गली गली गो-रस फिरे मदिरा बैठ बिकाय' के विपरीत व्यंजनों और व्यसनों का भेद मिटाकर साथ-साथ ही व्यसनों को व्यंजनों की तरह परोसा जाता है। सजावट और सेटिंग से जरूरी एवं गैरजरूरी सभी वस्तुएँ समान रूप से आकर्षित करती हैं। पहले लोगों में जैसा आकर्षण मेलों का होता था वैसा ही आकर्षण अब हर मौसम और हर महीने में 'मॉल' का होता है, जहाँ जश्न भी है और हर किस्म का माल भी।

दरअसल अन्य जीवों की तरह मनुष्य भी निश्चित जीवनचक्र से बँधा होता है, और पोषण से लेकर प्रजनन तक का जीवनक्रम दिन,रात और विविध

ऋतुओं के हिसाब से निर्धारित होता है। स्थान की भिन्नता और पोषक तत्वों की उपलब्धता के हिसाब से पेड़-पौधों और पड़ोस के पशुओं के साथ भी मनुष्य का एक निश्चित संबंध कायम होता है। इस तरह एक व्यापक कर्मकांड का ताना-बाना बुना होता है जिसकी भावात्मक पकड़ इतनी जबरदस्त होती है कि इसका अतिक्रमण न सिर्फ समुदाय के लिए निंदनीय बन जाता है बल्कि स्वयं मनुष्य के भीतर एक अपराधबोध, पश्चाताप और भय पैदा करता है। परिस्थितियों के दबाव में ये परंपराजन्य वर्जनाएँ तभी टूटती हैं जब जीवन की नई जरूरतों के लिए इन्हें तोड़ना अस्तित्व का सवाल बन जाता है।अतीत में ऐसी जरूरतें पैदा हुई एकाएक ऋतुओं के बदलाव, बाढ़ या भूकंप जैसी आपदाओं से। बाद में सभ्यता के उदय के साथ दिग्विजय को निकले महाबलियों के आक्रमणों से लोगों को बार-बार विस्थापित हो परिवेश बदलना पड़ा। इस दबाव में लोगों को जरूर अपने रहन-सहन एवं वेशभूषा को बदलने की मजबूरी हुई। लेकिन कालक्रम में फिर सब कुछ नए रीति-रिवाजों में स्थिर होता गया।

कुछ महत्वपूर्ण जानकारियाँ जिनकी आधुनिक सभ्यता बनाने में बड़ी भूमिका रही है, प्रारंभ में खिलौने और मनोरंजन बनी रहीं। मसलन चुंबक की जानकारी चीन में प्राचीन काल से थी पर सदियों बाद यूरोपीय जहाजियों ने इसका उपयोग कंपास बनाने में किया, जब वे महीनों लंबी समुद्री यात्राओं पर निकलने लगे थे। इसी तरह बारूद का ज्ञान चीनियों को प्राचीन काल में था पर वे इसका इस्तेमाल आतिशबाजी के लिए करते थे। यूरोपीय लोगों ने सदियों बाद तोप और तमंचों के लिए इसका इस्तेमाल करना शुरू किया। सभ्यता के उदय के साथ विशाल पैमाने पर आक्रमण और नरसंहार की भूख तेज हुई। रुग्ण मानसिकता से पैदा इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए सदियों से लगातार युद्ध आयुधों में सुधार और नए-नए आविष्कार होते रहे हैं।

पूँजीवादी व्यवस्था ने आवश्यकता से आविष्कार वाले क्रम को पूरी तरह उलट दिया है। पूँजीवाद में उत्पादन का एकमात्र लक्ष्य उत्पादित वस्तुओं को बाजार में बेच मुनाफा कमाना होता है। मुनाफे की मात्रा सदा उत्पादन और इसके उत्पादों की बिक्री से जुड़ी होती है। अगर लोगों की जरूरतें सीमित हों तो आबादी की बाढ़ के एक स्तर पर ये स्थिर हो सीमित हो जाएँगी। इससे उत्पादन पर एक सीमा लग जाएगी। यह पूँजीवादी व्यवस्था के ठहराव और इसकी मौत का संकेत होगा। इस ठहराव को तोड़ने का सरल उपाय है नई आवश्यकताओं और इनकी पूर्ति की वस्तुओं का आविष्कार। आवश्यकताओं का आविष्कार पूँजीवादी व्यवस्था की मजबूरी बन जाता है। अगर रोज नए आविष्कारों से लोगों में नई जरूरतें पैदा की जा सकें तो उत्पादन पर कभी विराम नहीं लगेगा।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नित्य नए उत्पादों को बाजार में लाकर पूँजीवाद अपने बाजार के संकट से निजात पा सकेगा। लेकिन क्या अनंत काल तक? यह संभावना दो कारणों से खारिज होती है— (1) पूँजीवाद में बाजार के मूल संकट पर विभिन्न बिंदुओं से मार्क्सवादी अर्थशास्त्रियों ने विचार किया है। उनके अनुसार इसके संकट का मूल कारण है उत्पादित वस्तुओं को खरीदने की क्रयशक्ति के एक हिस्से का सदा बाजार के लिए अनुपलब्ध होना। उनके अनुसार इसका कारण यह है कि उत्पादन में लगाए गए मजदूरों के श्रम की पूरी कीमत उन्हें नहीं दी जाती। इससे उत्पादित वस्तुओं को खरीदने के लिए जरूरी क्रयशक्ति का टोटा पड़ जाता है। इस विषय पर अनेक मार्क्सवादी चिंतकों ने विचार व्यक्त किया है और उन्होंने इसी अंतर्विरोध से पूँजीवाद के ध्वस्त होने की भविष्यवाणी की है। अभी तक इसके ध्वस्त नहीं होने का कारण एक बाहरी क्षेत्र 'साम्राज्य','उपनिवेश' आदि से क्रयशक्ति की उपलब्धता बतलाया गया है।

उपभोग और ऐयाशी की वस्तुओं की चाहे जितनी भी विविधता हो या उनका विस्तार हो अंततः उन्हें खरीदने की शक्ति तो किन्हीं हाथों में होनी ही चाहिए। अगर इसका टोटा होता है तो फिर संकट आएगा। अगर यह संकट अब तक टलता आया है तो इसका कारण यह हो सकता है कि अब तक बाजार या निवेश की दृष्टि से संसार के सभी कोने इसकी पहुँच में नहीं आए हैं और किसी बाहरी क्षेत्र से इसे राहत मिलती रही है। फिर भी सीमित रूप से बाजार के संकट का अंदेशा तो अर्थ-जगत पर बना ही रहा है। 1929 -30 की मंदी से भी 'न्यू डील' की नीति से अमेरिकी व्यवस्था आंशिक रूप से ही उबर पाई थी। यह पूरी तरह उबरी द्वितीय विश्वयुद्ध से ही जब युद्ध की घोर बर्बादी ने विशाल बाजार उपलब्ध कराया। (2) दरअसल वर्तमान औद्योगिक व्यवस्था के संकट का इससे बड़ा और मूल कारण जिसे उपभोक्तावादी संस्कृति और गहराती है वह है उत्पादन के लिए संसाधनों की सीमा। हमारी धरती एक सीमित नक्षत्र है और इसी सीमित नक्षत्र से उत्पादों के लिए असीमित संसाधनों की उपलब्धि असंभव है।जीवाश्म ईंधनों—जैसे कोयला, पेट्रोलियम और प्राकृतिक गैस के सारे स्रोत धीरे-धीरे खत्म होते जा रहे हैं, यह ईंधन की लगातार बढ़ती कीमतों में प्रतिबिंबित है। अभी भारत के उद्योग और ऊर्जा क्षेत्र देश में कोयले की घटती उपलब्धता के कारण विदेशों में कोयला खदानों को खरीदने की दिशा में बढ़ रहे हैं। तेल और प्राकृतिक गैस के लिए विभिन्न देशों में पैर फैलाने की आपाधापी है। इरान, इराक आदि के साथ बड़ी औद्योगिक शक्तियों की टकराहट का यह एक मूल कारण है। इससे उत्पादन के विस्तार पर एक अलंघ्य सीमा तो लग ही जाती है।

जनमानस को जरूर एक समय तक उत्पादन के नए चमत्कारों से उलझाकर भ्रम में रखा जा सकता है। तत्काल बाजार के लुभानेवाले आकर्षणों में आदमी आनेवाले या आसन्न संकटों की तरफ से लापरवाह जरूर हो जाता है। लेकिन इससे हम संसाधनों के अभाव की सीमा को टाल नहीं सकते। उत्पादन का जितना ही विस्तार होता है यह सीमा उतना ही पास आती जाती है। आत्मनियंत्रण ही एकमात्र उपाय है जिससे हम इस सीमा को दूर तक टाल सकते हैं।

अगर सीमाएँ हों भी तो आदमी सीमाओं के अतिक्रमण की कोशिश तो सदा से करता रहा है? इस संदर्भ में एक मूल प्रश्न उठाया जाता है—सुख की हमारी कल्पना क्या है? क्या सुख की कल्पना से भौतिक सुविधाओं को खारिज किया जा सकता है? क्या शारीरिक श्रम में कमी वांछनीय नहीं है?

शायद यह प्रश्न पुरातन काल से जबसे सभ्यता की शुरुआत हुई और पशुओं और दूसरे मनुष्यों पर काम का बोझ डाल कुछ लोगों के लिए आरामतलबी और शान-शौकत की जिंदगी संभव होने लगी, मानव समाज के सामने रहा है। श्रममुक्त आरामतलबी का रुझान औद्योगिक क्रांति के प्रारंभिक दिनों से शायद ज्यादा प्रबल होने लगा। उन्नीसवीं सदी के प्रथम चरण में लिखे गए अपने विश्वविख्यात नाटक 'फॉस्ट' में जर्मन लेखक गोयथे ने 'श्रमरहित ऐयाशी' और 'श्रमसाध्य सुरुचिपूर्ण जीवन' की दो स्थितियों के बीच चुनाव का सीधा विकल्प प्रस्तुत किया है। नाटक के मुख्य नायक फॉस्ट ने समृद्धि और सुख के चिर जीवन की कामना से अपनी आत्मा को मेफिस्टोफिल्स (शैतान) के हवाले कर दिया है। मेफिस्टोफिल्स, फॉस्ट को अपने को परिवर्तित कर चिर-यौवन पाने के लिए डायनों द्वारा प्रस्तुत रसायनों की प्रक्रिया से गुजरने की सलाह देता है। लेकिन फॉस्ट प्रस्तुत प्रक्रिया के प्रति वितृष्णा जाहिर करता है। इसके जवाब में मोफिस्टोफिल्स कहता है —"ठीक है, एक तरकीब बिना डायन, सोना और जादू के अपनाई जा सकती है। अपनी भावनाओं को संयमित और सीमित दायरे में रखो। अपने को सादे आहार पर जीवित रखो। अपने मवेशियों के साथ रहो और स्वयं उनके मल को खाद के रूप में उस भूमि पर फैलाओ जहाँ से तुम अपना पोषण पाते हो। विश्वास करो, यह सबसे अच्छा तरीका है जिससे तुम अस्सी साल से अधिक तक अपने को युवा रख सकते हो।"

फॉस्ट का जवाब है —"मैं इसका अभ्यस्त नहीं हूँ। मेरे लिए यह संभव नहीं है कि मैं कुदाल लेकर जमीन की खुदाई करूँ। मेरे लिए सादगी के शुष्क जीवन की कोई अपील नही है।"

मेफिस्टोफिल्स कहता है —"वैसी हालत में मैं समझता हूँ कि डायन का रास्ता ही विकल्प है।"

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ की यह दुनिया आज ज्यादा दारुण हो आदमी को आक्रांत कर रही है। आराम का जो लुभावना जीवन, गांधी के शब्दों में यह 'शैतानी सभ्यता' हासिल करा रही है अधिक आकर्षक और देखने में अधिक सहल भी है। लेकिन इसे हासिल करने का रास्ता झूठ, प्रपंच एवं हत्या का और उन सभी मानवीय मर्यादाओं और भावनाओं को नष्ट करने का है जिसका विवरण गोयथे के इस कालजयी नाटक में मिलता है।लेकिन यह नाटक आज निजी जीवन से बढ़कर सामूहिक रूप से विश्व स्तर पर मंचित हो रहा है, जिसमें कुछ लोगों की सुख-सुविधा के लिए कुछ करोड़ लोग विश्वयुद्धों में और दूसरे कुछ करोड़ लोग छोटे-मोटे स्थानीय और गृहयुद्धों में मरते हैं और उनसे भी बड़ी तादाद में लोग अकाल, कुपोषण और विषाक्त हो रहे जल और भोजन से पैदा बीमारियों से असमय तड़प-तड़पकर मरते रहते हैं। इस सभ्यता से जिन्हें सहज और सुखद जीवन प्राप्त हो रहा है उनके लिए ये सब त्रासदियाँ महज आँकड़े हैं जो रूटिन के तहत संयुक्त राष्ट्रसंघ की संस्थाओं द्वारा संकलित और प्रसारित होते रहते हैं। ये आँकड़े निर्लिप्त होते हैं। इनमें न सड़ रही लाशों की दुर्गंध होती है, न घायल और बीमार लोगों के तड़पने की पीड़ा। हम अखबार के पन्ने पर ये आँकड़े देखते हैं और फिर पन्ना पलटते हैं और उसकी पीठ पर लुभानेवाले विज्ञापनों की दुनिया में अपनी संभावनाओं की कल्पना में डूब जाते हैं। हमारी त्रासदी यह है कि हमारा पूरा प्रचारतंत्र और जीवन की प्रस्तुतियाँ समस्या के एक ही पहलू को मन पर अंकित करती है। विडंबना यह है कि तर्क और विज्ञान के इस युग में हम सुख और उपभोग (उपभोक्तावादी अर्थ में) का भेद करना भूल गए हैं। कार्य (वर्क) मशीनों का काम है या आँख से ओझल उन अर्धमानवों का जो दूर-दराज दुर्गम स्थानों पर खदानों में जहरीले और रेडियोधर्मी धूलों को फेफड़ों में भरते और असमय मरते रहते हैं। सभ्य मानव का काम है चटखारों से उदीप्त वासनाओं की तृप्ति। आज से आधी शताब्दी से अधिक पहले प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक जॉर्ज ऑरवेल ने ब्रिटेन के कोयला खदानों के श्रमिकों की तुलना 'कैरियोटिड' (यूनानी स्थापत्य में कंधों पर भवनों का बोझ उठानेवाली मानव मूर्तियाँ) से की थी। दुनिया के दूर-दराज अंचलों में या हमारी आँखों से ओझल यह सब हमारी चेतना से निर्वासित है क्योंकि इससे 'आनंद' में खलल पहुँचता है।

अगर शारीरिक श्रम इतना दुखद है तो लोग फिर बिना जरूरत पर्वतारोहण के कठोर श्रम का स्वेच्छा से वरण क्यों करते हैं? ओलंपिक या दूसरे कष्टसाध्य खेलों की ओर क्यों आकर्षित होते हैं? शायद सभी दूसरे जीवों की तरह श्रम और आराम के बीच संतुलन हमारी आनुवंशिक आवश्यकता है। दोनों में से किसी की अति या अभाव दुखदायी हो सकता है। हमारी नई पूँजीवादी

औद्योगिक सभ्यता इस असंतुलन को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर एक सिरे पर मोटापा, मधुमेह और हृदय रोग फैलाती है तो दूसरे सिरे पर डायरिया, तपेदिक और काम के अत्यधिक बोझ से हरारत और मृत्यु। और अंत में खेल भी मनोरंजन की जगह व्यवसाय और मुनाफे का स्रोत बन जाता है। इससे जुड़े विज्ञापनों से अरबों की कमाई होने लगती है। पहले मनोरंजन के लिए तीतर और मुर्गे लड़ाए जाते थे। फिर घुड़दौड़ आई जिस पर दाँव लगा जुआबाजी शुरू हुई और अब क्रिकेट आया है जो वास्तव में 'क्रिकेट' न रहकर अरबों के विज्ञापनों का धंधा बन गया है। इससे भी आगे बढ़कर— जैसे रोम में सर्कसों में मनुष्य और जानवरों को लड़ाने के खेल से नागरिकों को रिझाया जाता था,वैसा ही अब क्रिकेट में हो रहा है जिससे नागरिकों को जीवन की मूल समस्याओं के प्रति उदासीन बनाया जा रहा है। इस तरह श्रम की नैसर्गिक जरूरत को निरुद्देश्य क्रीड़ा के व्यवसाय में बदला गया है। परिवेश की भिन्नता से शारीरिक श्रम यातना की जगह आनंद का स्रोत भी हो सकता है जैसा श्रमसाध्य खेलों में होता है।

अंतिम रूप से सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह उठता है कि उपभोक्तावादी संस्कृति के खिलाफ संघर्ष व्यक्ति के स्तर पर होगा या व्यवस्था बदलने की नीति के स्तर पर होगा।

चूँकि उपभोक्तावादी संस्कृति को आदमी वैयक्तिक स्तर पर भी आत्मसात करता है और उस परिवेश से भी घिरा है जिससे उस पर उपभोक्तावादी दबाव बनता है, इससे निजात पाने का संघर्ष भी दोनों स्तरों पर होगा। लेकिन सबसे जरूरी है चेतना के स्तर पर इसके जादू से मुक्त होना। एक बात तो साफ दिखाई देती है कि इस संस्कृति को आधार मिला है वर्तमान पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था से। इसलिए इसके खिलाफ मूल संघर्ष तो इस व्यवस्था से ही होगा। लेकिन निजी स्तर पर भी इसके मोह से मुक्त होने का प्रयास जरूरी होगा—वैसा ही जैसा स्वदेशी की लड़ाई राजनीतिक और वैयक्तिक रहन-सहन एवं लिबास दोनों के स्तर पर लड़ी गई थी। संसाधनों के सिकुड़ते आधार और पर्यावरण संकट से वर्तमान पूँजीवादी औद्योगिक व्यवस्था की सीमाएँ अब साफ उभरने लगी हैं। इससे आनेवाले दिनों में इसके खिलाफ संघर्ष आसान होता जाएगा। हालाँकि उन विकसित देशों में जहाँ उन्होंने परिवेश को अपनी उपभोक्तावादी जरूरतों के हिसाब से काफी बदल दिया है यह प्रयास बहुत ही दुखदायी हो सकता है। लेकिन जब अस्तित्व दाँव पर लग जाएगा तो मजबूरन व्यवस्था को बदलना ही होगा।

□□□